1962: युद्द जो लड़ा नहीं गया

लेफ्टिनेंट कर्नल जे·आर·सहगल



अनुक्रमणिका

भूमिका

इस पुस्तक के काफी विवादास्पद होने की संभावना है। इससे त्यौरियां चढ़ेंगी, दोषारोपण और उनके खंडन प्रस्तुत किए जाएंगे तथा एक क्रुद्ध बहस भड़क उठेगी। यह देश की बुनियादी संस्थाओं के प्रति लोगों के मन में बढ़ती निराशा और घटते मोह को भी बढ़ावा दे सकती है। शायद इसी कारण से इसका स्वागत किया जाना चाहिए। हमारी सार्वजनिक नीति संबंधी महत्त्वपूर्ण मुद्दों तथा संस्थागत बुनियादों पर एक निष्पक्ष बहस का अभाव ही इन संस्थाओं की कार्यकुशलता में कमी तथा उनके प्रति जनमानस में बढ़ती निराशा के लिए जिम्मेदार है। साथ ही असफलताओं के कारणों और अन्य संबंधित विषयों पर महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध न होना भी इसके लिए कम जिम्मेदार नहीं है।

यह पुस्तक हमारे देश के इतिहास की अति घिनौनी घटनाओं में से—1962 के युद्ध और राष्ट्रीय प्रतिरक्षा से संबंधित—एक ऐसे क्षेत्र के विषय में जानकारी देती है जो अब तक रहस्यों के गर्भ और कल्पना के आवरण में कैद है। उस क्षेत्र के साथ 'पवित्र गाय' जैसा व्यवहार करके तथा प्रतिरक्षा संबंधी मसलों पर संसद या समाचार-पत्रों में किसी भी तरह की बहस को दबाकर सरकार ने हमें छुटपुट याददाश्त, बड़े पैमाने पर अटकलबाजी और विदेशी सूत्रों से प्राप्त सूचना पर ही विश्वास करने के लिए मजबूर किया है। इसीलिए 1962 की पराजय पर हेंडरसन ब्रूक्स की रिपोर्ट न तो कभी प्रकाशित की गई और न ही किसी भारतीय विद्वान को उपलब्ध कराई गई। अपने व्यक्तिगत संपर्कों के आधार पर केवल नेविले मैक्सवेल ही उसे प्राप्त कर पाए। 1962 के युद्ध से ही संबंधित नहीं, भारत-चीन संबंधों पर भी कोई कागजात अभी तक विद्वानों को उपलब्ध नहीं हो रहे।

1962 के युद्ध जैसी घटना का, जो भारत के आधुनिक इतिहास में कई तरह से एक बड़ा मोड़ थी, अभी सही ढंग से विश्लेषण होना बाकी है। इसका कारण है स्वतंत्र चिंतन पर सरकारी गोपनीयता का पर्दा पड़ा होना। हमेशा यह कहा

जाता है कि निष्पक्ष विश्लेषण देशभक्ति रहित भी हो सकता है। हमें यह विश्वास दिलाया जाता है कि सीखने योग्य हर पाठ हमारे नीति निर्धारकों ने खुद पढ़ लिया है, लेकिन इसकी निष्पक्ष जांच कभी नहीं हो सकती। सरकार यह नहीं समझती कि इस तरह के रवैये से न केवल उसकी अपनी साख गिरती है, वल्कि उसकी उपलब्धियों पर भी पानी फिर जाता है। भारत को उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष में, अफ्रीका-एशिया खंड तथा गुटनिरपेक्ष आंदोलन के नेता और प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में जाना जाता था, पर 1962 में इसे एक वड़ा आघात लगा और भारत की साख गिरने लगी। (यह खोई हुई साख 1971 के युद्ध तथा 1974 में पोखरन में किए गए परमाणु परीक्षण के वाद ही भारत को प्राप्त हो सकी है और वह भी पूरी तरह से नहीं क्योंकि वड़े मुद्दों पर अनिश्चय का वातावरण है।) विश्व में भारत की प्रतिष्ठा छिनने का कारण केवल युद्ध में मिली पराजय ही नहीं था—हालांकि इस पुस्तक के लेखक ने काफी तर्क दिए हैं कि युद्ध में हमारी हार का कोई कारण नहीं था—वल्कि यह सच्चाई भी थी कि हार के वास्तविक कारणों पर पूर्ण वहस की अनुमति कभी भी नहीं दी गई। जनता को किसी भी रूप में उन कारणों से अवगत नहीं कराया गया ताकि राष्ट्रीय जनमानस उसे समझकर आगे वढ़ पाता।

इस पुस्तक से हमारे नेताओं, संसद सदस्यों, समाचारपत्रों और गुप्तचर विभाग को देश की इस महत्त्वपूर्ण घटना पर अध्ययन करने का मौका मिलेगा। साथ ही भारत-चीन संवंधों पर भी पुनर्विचार हो सकेगा जो इस घटना के वाद से विगड़े पड़े हैं। यह पुस्तक एक ऐसे व्यथित सैनिक द्वारा गहराई से किया गया लेखा-जोखा है, जिसने 1962 के युद्ध में भाग लिया था। इसमें राष्ट्रीय लज्जा पर उसकी व्यथा, युद्ध में मरने या नुकसान उठाने वालों के प्रति हमदर्दी तथा हार के लिए जिम्मेदार लोगों के प्रति उसकी घृणा साफ झलकती है। यह पुस्तक सेना में उपनिवेशी परंपरा, तत्कालीन उच्चाधिकारियों में राष्ट्रीय प्रतिवद्धता की कमी, सेना के ऊंचे हल्कों में व्याप्त राजनीति, मंत्रियों की चालवाजी तथा विदेशी गुप्तचर एजेंसियों के योगदान की भी गहन जानकारी देती है। यह अव तक की मान्यता के खिलाफ तर्क प्रस्तुत करती है कि 1962 का युद्ध स्थल चीनियों की अपेक्षा हमारे अधिक अनुकूल था। इसके लिए उसने वास्तविक घटनाओं को विस्तृत रूप से सामने रखा है।

यह पुस्तक अनेक सवाल उठाती है, जिनपर हमारे भावी शोधकर्ता गहराई से विश्लेषण कर सकते हैं, वशर्ते उन्हें सरकार यह करने की अनुमति दे दे। चीन के विषय में पंडित नेहरू का निजी विचार क्या था? क्या उनकी 1960 की टिप्पणी कि एक मजवूत चीन हमेशा विस्तारवादी है, सच्चाई का आकस्मिक रहस्योद्घाटन था, अथवा वह हमेशा ऐसा ही विश्वास रखते थे? यदि हां, तो उन्होंने

इस पर पहले कोई कार्रवाई क्यों नहीं की ? 1959 का विवाद राजनीति से हट कर वैधानिक स्तर पर क्यों पहुंच गया था ? 1957 के बाद भारत-चीन संबंधों पर रूस ने किस प्रकार की सलाह दी थी ? क्या इसने दिल्ली में नीति-निर्धारण को प्रभावित किया था ? क्या 1960 में चाऊ एन-लाइ राजनैतिक समझौते के लिए दिल्ली आए थे ? यदि हां, तो बातचीत के असफल होने का क्या कारण था ? प्रगतिशील नीति (फारवर्ड पॉलिसी) कैसे शुरू हुई थी ? इसके लिए सेना, गुप्त-चर ब्यूरो, विदेश मंत्रालय, केंद्रीय मंत्रिमंडल या किस अन्य एजेंसी ने पहल की थी ? यह किन पूर्वानुमानों पर आधारित थी ? 1962 में 'चीनियों को खदेड़ो' निर्णय कैसे लिया गया था ? लागत अनुमान क्या थे ? क्या अमेरिका से कोई मदद लेने का प्रयास किया गया था ? यह बचाव सहायता किस प्रकार की थी, तथा इसका मुआवजा कितना था ? क्या 1962 के बाद चीन से भारतीय प्रतिरक्षा कार्य में सी० आई० ए० का हाथ रहा ? यदि हां, तो इसने भारत की विदेश नीति को किस तरह से प्रभावित किया ? 1962 की पराजय से आरक्षी सेनाओं की क्षमता, सैन्य सामग्री, आरक्षी सेनाओं के संगठन और नेतृत्व, अपनी विदेश नीति तथा तिब्बत के प्रति रुख के बारे में हमने क्या सबक सीखा ? और इन या अन्य बातों ने अपने और अपने पड़ोसियों के बारे में हमारे चिंतन को किस सीमा तक प्रभावित किया ?

इतिहास उन देशों को खासा मजा चखाता है जो उससे सबक सीखने से इनकार करते हैं। हमें आज की चंद सफलताओं से फूलकर अल्पकालीन सुख-सुविधाओं के संदर्भ में भूल सुधारों को नहीं ढूंढना होगा। 1962 की हार की सही परीक्षा हमें आज की उपलब्धियों से अलग नहीं करेगी, बल्कि यह जानकारी देकर कि हम कैसे और क्यों गलत थे, कैसे और क्यों वर्तमान भूत से बेहतर प्रतीत होता है और भविष्य का मुकाबला कैसे होगा—केवल आरक्षी सेनाओं द्वारा ही नहीं, बल्कि सारे राष्ट्र द्वारा —हमारे प्रतिरक्षा प्रयासों को सही परिप्रेक्ष्य में रख सकेगा।

—रजनी कोठारी

आमुख

जब से मैंने 1962 के भारत-चीन युद्ध में भाग लिया था, मेरी इच्छा थी कि मैं वह सब दस्तावेज के रूप में रख छोड़ूं जो मैंने युद्ध के दौरान स्वयं अनुभव किया था। हमारी सेना के नियम और कायदे-कानून सेवा में रहते वह सब लिखने की इजाजत नहीं देते। अतः मुझे एक ब्रिगेडियर ने जिसे मैंने युद्ध का संक्षिप्त विवरण भेजा था, इस तरह के प्रकाशन के खिलाफ 'सलाह' दी थी। ब्रिगेडियर ने मुझे वापस लिखा था कि मेरा विवरण 'कभी भी प्रकाशन के लिए स्थान नहीं पा सकेगा क्योंकि सत्य हमेशा घृणित होता है। मैं तुम्हें इस विवरण को सीमित रखने का सुझाव दूंगा। एक सीमा के बाहर इसका प्रचार सतर्कता के साथ सीमित रखना होगा अन्यथा यह तुम्हारे विरुद्ध जा सकता है।'

युद्ध का लेखा-जोखा प्रकाशित करने की मेरी इच्छा तब और प्रबल हुई जब मैंने इस विषय पर पत्रकारों, नौकरशाहों और उच्च कमांडरों द्वारा लिखे गए लेख और किताबें पढ़ीं। जनरल कौल और ब्रिगेडियर दलवी ने मूलतः अपनी सफाई पेश करने के लिए लिखा और मुझे डर है कि ऐसा करने में उन्होंने इतिहास को तोड़ा-मरोड़ा। अक्तूबर, 1962 में भारत-चीन युद्ध के पहले चरण में, जहां ब्रिगेडियर दलवी न्यामका चू नामक संघर्ष-स्थल पर स्वयं उपस्थित थे, वहीं जनरल कौल 'फुट हिल्स' में थे, सौ से भी ज्यादा किलोमीटर दूर थे। संघर्ष स्थल पर क्या हुआ, सुनी-सुनाई बातों के अलावा उन्हें इसकी कोई जानकारी नहीं थी। पत्रकार और नौकरशाह मूक पशु थे। उन्हें मुख्य घटना के विषय में दूसरे स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ा था। अतः असलियत छिपी रही। रोजमर्रा की गतिविधियां, मुठभेड़ के रिकार्ड, इस अवसर पर सेना की टुकड़ियों तथा कनिष्ठ कमांडरों की प्रतिक्रियाएं तथा सेला-दिरांग-बोमडिला क्षेत्र में चीनियों के खिलाफ दूसरे संघर्ष के दौरान 18 नवंबर, 1962 को हमारी अचानक हार से संबंधी सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का सही रिकार्ड नहीं रखा गया। सेना से अवकाश ग्रहण करने के फौरन बाद मैंने नवंबर, 1977 में अंग्रेजी दैनिक

'पायनियर' में 1962 के भारत-चीन युद्ध पर कुछ लेख लिखे थे। हमारी सेना में शिखर के लोग इन लेखों से काफी नाराज हुए। इनमें कुछ ने तो मुझे 'गड़े मुर्दों को न उखाड़ने' की सलाह भी दी, हालांकि अनेक सेवारत और सेवामुक्त अफसर चाहते थे कि मैं सेनाओं के वृहत्तर हित में रिकार्ड ठीक करने के लिए ज्यादा विस्तृत रूप में लिखूं। मुझे आशा है कि मैंने इस पुस्तक को लिखकर अपने मित्रों से किए गए वायदे को पूरा किया है तथा सेनाओं के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है।

मैंने नवंबर, 1962 के संकटकालीन समय में नेफा में डिरांग नामक स्थान पर स्थित 65 इन्फेंट्री ब्रिगेड के मुख्यालय पर (स्थायी पदधारी के छुट्टी से लौटने तक) 'डिप्टी असिस्टेंस्ट एड्जुटेंट' और 'क्वार्टर मास्टर जनरल' (मेजर) तथा कार्यवाहक 'ब्रिगेड मेजर' के पदों पर कार्य किया था। मेरा काम संभार तंत्र (लॉजिस्टिक्स) संचालन तथा संभागीय मुख्यालय के साथ संपर्क बनाने से संबंधित था। 65 इन्फेंट्री ब्रिगेड का मुख्यालय 4 इन्फेंट्री डिविजन से एक किलोमीटर से भी कम दूरी पर था, जो केंद्र बिंदु था और नेफा में कामेंग फ्रंटियर डिविज़न की सैनिक कार्रवाइयों के लिए जिम्मेदार था। हमारी ब्रिगेड के डिरांग की ओर प्रस्थान करने से पूर्व हमने कुछ समय बोमडिला में बिताया था। मैं एक संपर्क कार्य के अंतर्गत सेला में 62 इन्फेंट्री ब्रिगेड के मुख्यालय भी जा चुका था। मेरे अनुभव घटनाओं के कुछ खास पक्षों से संबंधित हैं तथा इंगित करते हैं कि वाकये के बारे में रिकार्ड की गई बातों से वास्तव में तथ्य कहीं ज्यादा हैं।

युद्ध के इतिहास में पहले कभी ऐसा नहीं हुआ कि एक सुसंगठित, प्रशिक्षित और पूर्णतया साधन-संपन्न सेना जिसकी अग्निशक्ति दुश्मन से कहीं ज्यादा प्रबल थी, तथा जिसके 15,000 से ज्यादा अनुभवी सैनिक अपने देश की रक्षा के लिए लाभकारी स्थिति में नियुक्त थे, बिना किसी लड़ाई के मिनटों में बिखर गए। इससे अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा को जो क्षति पहुंची, उसे कभी पूरा नहीं किया जा सकेगा। इसीसे कृष्ण मेनन का गतिशील राजनैतिक जीवन बीच में खत्म हुआ तथा जवाहरलाल नेहरू की राजनैतिक प्रतिष्ठा को भी चोट पहुंची। निस्संदेह उस पराजय की विभागीय स्तर पर ले० जनरल हेंडरसन ब्रुक्स द्वारा जांच भी की गई, जिनका देश में न तो कोई मूलाधार था, न ही कोई दिलचस्पी। वह उसके फौरन बाद आकस्मिक और अनियमित ढंग से देश से चले गए। आश्चर्य है कि उनकी रिपोर्ट 15 वर्ष बाद भी अभी तक गोपनीय है। यह और आश्चर्यजनक है कि जहां नेविले मैक्सवेल को संभवतः रिपोर्ट की प्राथमिक जानकारी थी और जिसका उन्होंने अपनी पुस्तक 'इंडियाज चाइना वार' में अच्छा इस्तेमाल भी किया, भारतीय जनता से सच्चाई अभी तक छिपी हुई है!

यह पुस्तक प्राथमिक रूप से युद्ध के राजनैतिक पक्ष की ओर नहीं बल्कि सैन्य पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से लिखी गई है। राजनैतिक कारण सैन्य निर्णयों को प्रभावित अवश्य करते हैं। पर एक बार यदि निर्णय कर लिया गया है तो यह उच्चतर कमांडरों का कर्तव्य हो जाता है कि वे या तो बिना किसी विरोध के कार्यान्वित करें या अच्छे सैनिकों की तरह निर्णय के विरोध में चले जाएं। शिखर के अधिकारियों के लिए यह अति असैनिक कार्य होगा यदि वे राजनैतिक, सैनिक निर्णयों में खिलवाड़ करें। उनका ऐसा करना केवल राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश होगा। यदि ये कदम विदेशी एजेंसियों के दबाव के कारण उठाए जाए तो और भी ज्यादा बदतर होगा। 1962 में हमारे उच्च कमांडर इस तरह के अवांछित कार्य में किस सीमा तक लगे थे तथा अभी लगे हैं, यह इस पुस्तक के पन्नों के माध्यम से जाना जा सकता है। अत. इस पुस्तक में मेरा प्रयास है उपलब्ध तथ्यों को अपने मूल्यांकन के साथ पाठकों के सामने रखना ताकि वे अपने निष्कर्ष स्वयं निकाल सकें।

इस पुस्तक के लेखन में मैंने मुख्यत. अपनी उन टिप्पणियों का सहारा लिया है, जिन्हें मैंने घटना की समाप्ति के तुरंत बाद तैयार किया था। इस पुस्तक को पूरा करने में मुझे अपने अवकाश ग्रहण के बाद दो वर्षों तक कड़ा परिश्रम करना पड़ा है। अंतिम अध्यायों को लिखने का अवसर मिलते ही मैंने रानीखेत में गत वर्ष जून में दो सप्ताहों के दौरान पाडुलिपि को सुधार कर पूरा किया।

यह एक ऐसे विषय को फिर से उठाने का प्रयास है, जिसपर एक बार फिर विचार करने की जरूरत है, क्योंकि पश्चिमी मोर्चे पर 1965 और 1971 में लड़े गए भारत-पाक युद्ध हमारे हर तरह से बेहतर होने के बावजूद अनिर्णीत रहे। इसके कारण 1962 की भारत-चीन लड़ाई में खोजे जा सकते हैं। 1971 के भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तानी सेनाओं पर हमारी गौरवपूर्ण विजय, और बंगला देश बनने के बाद भी पाकिस्तान का रुख अभी गर्म है, और अभी भी वह एक अन्य बल-परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा है। उसने अभी तक हमारी आरक्षी सेनाओं की महत्ता स्वीकार नहीं की है। लगभग 10 लाख नियमित सैनिकों के साथ भारतीय थल सेना दुनिया में चौथी बड़ी सेना है। 1950 से लेकर हम अपने बजट का 20 से 40 प्रतिशत प्रतिरक्षा सेनाओं पर खर्च कर रहे हैं (इस समय यह खर्च लगभग 3,:00 करोड़ रुपये है), लेकिन राष्ट्रीय व्यय की इतनी बड़ी मद पर संसद में समय के अभाव में, तथा जानकारी के अभाव में, कोई बहस नहीं होती। हमारी पारंपरिक अमित्रवत चीन और पाकिस्तान दोनों पड़ोसियों से बेहतर है। संभार तंत्र और दूसरी अनेकानेक कठिनाइयों के कारण चीन कभी भी भारत जितनी सेना हमारी सीमा पर नहीं ला सकता। जहां तक सैनिकों और कनिष्ठ अफसरों का संबंध है, हमारी स्थल सेना उच्चतम

स्तर की पारंपरिक स्थल सेनाओं में से एक थी, और अभी भी है। यही बात वरिष्ठ अधिकारियों के लिए कैसे कही जा सकती है, यह भी इस पुस्तक की विषय-वस्तु है।

इस पुस्तक को मैंने सीमित समय के भीतर पूरा करने का प्रयत्न किया है ताकि शांति रहते कुछ सामग्री जनता के सम्मुख चिंतन के लिए रखी जा सके, क्योंकि सीमाओं पर अशांति के बादल लगातार मंडरा रहे हैं और कौन जाने वे कब बरस पड़ें। यदि इस पुस्तक के माध्यम से मैं आरक्षी सेनाओं की समस्याओं को कुछ ज्यादा गहराई से समझने और उनका अध्ययन करने के लिए जनता और समाचारपत्रों की दिलचस्पी जगा सका तथा सेनाओं के सुधार के लिए अन्य भूतपूर्व सैनिक अफसरों को भी उनके अनुभव लिखने के लिए प्रेरित कर सका, तो मैं समझूंगा कि मैंने अपने उद्देश्य को पा लिया है। राजनैतिक, औद्योगिक, शैक्षिक या कुछ अन्य क्षेत्रों में प्राप्त असफलताओं के प्रतिघात सीमित होते हैं पर युद्ध या सैन्य मामलों में मिली असफलताओं के अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव होते हैं—यहां तक कि एक देश अपनी पहचान तक खो सकता है, जैसा कि 1971 में पाकिस्तान के साथ हुआ था। इससे पहले कि विदेशी एजेंसियों की साजिश से देश पर दूसरी पराजय थोपी जाए, आरक्षी सेनाओं के मामले में वास्तविक दिलचस्पी लिए जाने की बड़ी जरूरत है। ये विदेशी एजेंसियां हमारे उच्च स्तरीय कमांडरों को अपने से मिला लेने के लिए काफी प्रबल हैं, जैसा कि इस पुस्तक से स्पष्ट होगा। सेना में एक पूर्ण और संतुष्ट जीवन व्यतीत कर, जिसके साहचर्य पर मैं गर्व करता हूं, मैं कम से कम यही कर सकता हूं कि कुछ ऐसे तथ्यों को प्रकाश में लाऊं जिनसे कुछ आत्मविश्लेषण किया जा सके तथा एक अच्छे संगठन—आरक्षी सेनाओं को ज्यादा मजबूत बनाने में मदद मिल सके, जिसपर देश की अखंडता, बल्कि वास्तव में उसका बना रहना तक निर्भर है।

7/43 तिलक नगर
कानपुर
6 सितम्बर, 1978

आभार

मेरे लिए यह संभव नहीं है, मैं उन सभी लेखकों और प्रकाशकों को व्यक्तिगत रूप से लिखकर धन्यवाद दूं, जिनकी पुस्तकें मैंने इस कार्य को पूरा करने में संदर्भ या परामर्श स्वरूप प्रयोग की हैं। मैं उन सभी के लिए अपनी कृतज्ञता और धन्यवाद प्रकट करता हूं।

मैं अपने अनेक मित्रों और शुभचिंतकों के प्रति भी आभारी हूं, जिन्होंने इस पुस्तक के पूरा होने में खासी दिलचस्पी दिखाई तथा शीघ्रता से रेखाचित्रों के बनाने में मेरी स्वैच्छिक मदद की। उन्होंने पूरी सहायता गुमनाम रहकर ही की।

मेरे मित्रों—पुरुषोत्तम और राम भल्ला—ने पांडुलिपि की जांच करने में मेरी सहायता की। श्री गोपाल सक्सेना का भी मैं काफी आभारी हूं, जिन्होंने रात को देर-देर तक बैठकर मेरे हस्तलिखित मसौदों को टंकित किया। मैं कर्नल एन० सी० चतुर्वेदी (सेवामुक्त) का विशेष आभारी हूं, जिन्होंने पांडुलिपि को पढ़कर काफी मूल्यवान सुझाव दिए। मुझे श्री श्यामसुंदर को भी दिल से धन्यवाद देना चाहिए जिन्होंने पुस्तक को जांचने में मेरी मदद की तथा महत्वपूर्ण सुझाव दिए। किंतु मेरी पत्नी तृप्ता की प्रेरणा और प्रोत्साहन के बिना पुस्तक के प्रकाशन में काफी विलंब हो जाता।

इस कार्य को करने में बड़े पैमाने पर शोध-कार्य हुआ है। मैंने घटना से प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी भी रूप में संबंधित लगभग हर उपलब्ध समाचारपत्र और पत्रिका का अध्ययन किया है। मैं 'इंडियन कौंसिल आफ वर्ल्ड अफेयर्स लाइब्रेरी', 'इंस्टीट्यूट फार स्ट्रेटिजिक स्टडीज' और 'यूनाइटेड सर्विसेज इंस्टीट्यूट' के कर्मचारियों का आभारी हूं जिन्होंने किताबों को ढूंढने और तथ्यों की जांच के लिए प्रयुक्त अन्य सामग्री उपलब्ध कराने में मेरी मदद की। मैं जनरल चौधरी, पठानिया, निरंजन प्रसाद और बहुत-से अन्य लोगों का भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मुझे समय दिया और विषय पर, सुरक्षित ढंग से सही, मुझसे बात की।

भारतीय स्थल सेना की कमांड-शृंखला और पद-ढांचा

नियुक्ति	पद	इन नाम से भी जाने जाते हैं
स्थल सेनाध्यक्ष (चीफ आफ द आर्मी स्टाफ)	जनरल	आर्मी चीफ
जनरल आफीसर कमांडिंग-इन-चीफ-कमांड (जी० ओ० सी०-इन-सी०-कमांड)	लेफ्टिनेंट जनरल (ले० जन०)	आर्मी कमांडर
जनरल आफीसर कमांडिंग कोर (जी०ओ०सी०कोर)	लेफ्टिनेंट जनरल (ले० जन०)	कोर कमांडर
जनरल आफीसर कमांडिंग डिविजन (जी० ओ० सी० डिवि०)	मेजर जनरल (मेज० जन०)	डिवि० कमांडर
कमांडर इन्फेंट्री/ या आर्टिलरी ब्रिगेड/ या बी० डी० ई० (ब्रिगेड कमांडर)	ब्रिगेडियर (ब्रिगे०)	ब्रिगे० या बी० डी० ई० कमांडर
इन्फेंट्री बटालियन कमांडर (बी० एन० कमांडर)	लेफ्टिनेंट कर्नल (ले० कर्नल)	बटालियन कमांडिंग अफसर (सी० ओ० बटालियन)
आर्टिलरी या आरमर्ड रेजिमेंट कमांडर (रेजिमेंट / रेजि० कमांडर)	लेफ्टिनेंट कर्नल (ले० कर्नल)	रेजिमेंट कमांडर (सी० ओ० रेजिमेंट)
इन्फेंट्री कं०, आरमर्ड स्क्वैड्रन या आर्टिलरी बैटरी कमांडर्स (कंपनी स्क्वैड्रन या बैटरी कमांडर्स)	मेजर (मेज०)	कंपनी स्क्वैड्रन या बैटरी कमांडर्स

भारतीय स्थल सेना की कमांड-शृंखला और पद-ढांचा

नियुक्ति	पद	इस नाम से भी जाने जाते हैं
स्थल सेनाध्यक्ष (चीफ आफ द आर्मी स्टाफ)	जनरल	आर्मी चीफ
जनरल आफीसर कमांडिंग-इन-चीफ-कमांड (जी० ओ० सी०-इन-सी०-कमांड)	लेफ्टिनेंट जनरल (ले० जन०)	आर्मी कमांडर
जनरल आफीसर कमांडिंग कोर (जी०ओ०सी०कोर)	लेफ्टिनेंट जनरल (ले० जन०)	कोर कमांडर
जनरल आफीसर कमांडिंग डिविजन (जी० ओ० सी० डिवि०)	मेजर जनरल (मेज० जन०)	डिवि० कमांडर
कमांडर इन्फेंट्री/या आर्टिलरी ब्रिगेड/या बी० डी० ई० (ब्रिगेड कमांडर)	ब्रिगेडियर (ब्रिगे०)	ब्रिगे० या बी० डी० ई० कमांडर
इन्फेंट्री बटालियन कमांडर (बी० एन० कमांडर)	लेफ्टिनेंट कर्नल (ले० कर्नल)	बटालियन कमांडिंग अफसर (सी० ओ० बटालियन)
आर्टिलरी या आरमर्ड रेजिमेंट कमांडर (रेजिमेंट / रेजि० कमांडर)	लेफ्टिनेंट कर्नल (ले० कर्नल)	रेजिमेंट कमांडर (सी० ओ० रेजिमेंट)
इन्फेंट्री क०, आरमर्ड स्क्वैड्रन या आर्टिलरी बैटरी कमांडर्स (कंपनी स्क्वैड्रन या बैटरी कमांडर्स)	मेजर (मेज०)	कंपनी स्क्वैड्रन या बैटरी कमांडर्स

इन्फेंट्री प्लाटून, आरमर्ड ट्रुप या आर्टिलरी ट्रुप कमांडर (प्लाटून या ट्रुप कमांडर्स)	कैप्टन या सूबेदार (कैप्टन सूबे०)	प्लाटून या ट्रुप कमांडर
	लेफ्टिनेंट या 2/लेफ्टिनेंट (ले०/2/ले०)	सबल्टर्न्स.

टिप्पणियां

1. मेजर जनरलों, लेफ्टिनेंट जनरलों और जनरलों को 'जनरल' नाम से भी जाना जाता है। लेफ्टिनेंट कर्नल और कर्नल 'कर्नल' कहलाते हैं। मेजरों को फील्ड आफीसर भी कहा जाता है।
2. लेफ्टिनेंट कर्नल और उससे उच्च पदों के अफसरों को सीनियर आफीसर/सीनियर कमांडर कहा जाता है।
3. ब्रिगेडियर या इससे ऊंचे पद वाले कमांडर 'हायर कमांडर' भी कहलाते हैं।
4. कर्नल या इससे बड़े पद के अफसर स्थल सेना की जनरल आफीसर श्रेणी में आते हैं।

दिया जाता था। ये रेजिमेंट गैर-तकनीकी समझी जाती थीं जिनमें ज्यादातर पैदल और वख्तरबंद सेना होती थी। वाद में उनमें से कुछ को गोलन्दाज़ फौज और इंजीनियरों में भर्ती कर लिया जाता था।

के० सी० आई० ओ० अफसरों का चुनाव काफी जांच-पड़ताल के वाद किया जाता था। इनमें सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, ब्रितानी क्राउन के प्रति वफादारी, उनके पालन-पोषण और सीमित शैक्षिक योग्यता को देखा जाता था। इस बात का खास ध्यान रखा जाता था कि केवल सामंती परिवारों से संबंधित और, जहां तक संभव हो, गैर-राष्ट्रवादी विचारधारा वाले प्रार्थियों का ही चुनाव हो। वाइसराय स्वयं साक्षात्कार के वाद यह चुनाव करता था। ज़रा-सी राष्ट्रवादी और स्वतंत्र विचारधारा का भी लिहाज़ नहीं किया जाता था। मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण भी ऐसा था कि राष्ट्रीय भावना की वात कहीं भी न उभरने दी जाए। उन्हें अपमानित और परेशान किया जाता था, भारतीय राष्ट्रीय नेताओं की उन्हें निंदा सुननी पड़ती थी तथा भारतीय तौर-तरीकों का मज़ाक उड़ाने में भी शामिल होना पड़ता था। हालांकि कुछ इसके अपवाद भी थे, जिन्होंने इस प्रकार के अपमान का विरोध किया। पर या तो उन्होंने सेना को खुद त्याग दिया अथवा उन्हें निकाल दिया गया। इनमें से कुछ ने 1942 में भारतीय राष्ट्रीय सेना (इंडियन नेशनल आर्मी) में प्रवेश ले लिया। वे उन चंद भारतीय अफसरों में से थे, जिनमें देशभक्ति काफी हद तक विद्यमान थी।

के० सी० आई० ओ० अधिकारी स्वयं को भारतीय सिविल सेवा के अफसरों से उच्चस्तर का समझते थे। ठीक वैसे ही, जैसे किचनर-कर्ज़न विवाद के दिनों से ब्रितानी अफसर अपने हमवतन सिविल सेवा के लोगों से अपने को बेहतर समझते थे। यह विवाद वाइसराय लॉर्ड कर्ज़न और मुख्य कमांडर लॉर्ड किचनर के बीच हुआ था जिसमें मुख्य कमांडर की विजय हुई थी। फलस्वरूप वाइसराय को इस्तीफा देना पड़ा था और सशस्त्र सेनाओं पर से सिविल सेवाओं का आधिपत्य खत्म हो गया था। आई० सी० एस०/आई० ए० एस० की तुलना में सेना की उच्च कमान की श्रेष्ठता को लेकर विवाद हमेशा से रहा है और तथाकथित नागरिक प्रधानता की आड़ में अब भी जारी है। इस धारणा का जिस रूप में पश्चिमी देशों, खासकर ब्रिटेन, में पालन होता है, जिसपर हमारी नीतियां मूलतः आधारित हैं, उसे सही रूप में नहीं समझा गया है। कुछ ब्राउन साहबों (के० सी० आई० ओ० अधिकारियों को इसी रुतबे से पुकारा जाता था) ने तो अपने व्यवहार, रहन-सहन के ढंग और विदेशी संस्कृति के अनुकरण में ब्रितानियों को भी मात दे दी थी।

'ब्रिटिश इंडियन आर्मी' में आई० सी० ओ० अधिकारियों की भर्ती उनके इंडियन मिलिटरी अकादमी (आई० एम० ए०) में प्रशिक्षण के वाद 1932 से शुरू हुई।

इन अफसरों को भी 'वफादार' प्राथियों में से कड़ी प्रतियोगिता, और सतर्कता तथा विस्तृत जांच-पड़ताल के बाद ही चुना जाता था। परीक्षा पास करने के बाद भी उन्हें अनेक साक्षात्कारों और कसौटियों से निकलना होता था ताकि अततः क्राउन के प्रति अत्यधिक वफादार लोगों का ही चयन हो। इनमें से अधिकांश काफी कम उम्र में ही प्रवेश पा लेते थे। उसके बाद कड़े और विस्तृत प्रशिक्षण के बाद उनकी मानसिकता पूरी तरह पश्चिमोन्मुखी और ब्रितानी साम्राज्य तथा उसकी उपनिवेशी नीतियों के प्रति पूर्णतया वफादार हो जाती थी। इनमें से अधिकांश पहले ही प्रिंस आफ वेल्स मिलिटरी कालेज, देहरादून में प्राथमिक सैनिक प्रशिक्षण पा चुके होते थे जो उन्हें इंडियन मिलिटरी अकादमी के लिए तैयार करता था।

ब्रितानी अधिकारियों ने रूखे और कड़े व्यवहार से भारतीय अफसरों के दिमाग को पूरी तरह से अपने अनुरूप ढाल लिया था तथा उनके स्वाभिमान को निकाल फेंका था। हालांकि के० सी० आई० ओ० तथा आई० सी० ओ० अफसरों में कुछ ऐसे भी थे, जिनका व्यक्तित्व, स्वतंत्र चिंतन और कुछ राष्ट्रीय भावना पूरी तरह से मिटायी नहीं जा सकी थी। ऐसे अफसर यदा-कदा हठ भी पकड़ लेते थे, लेकिन उनपर कड़ी नजर रहती थी। अतः वे या तो धीरे-धीरे निकाल दिए गए अथवा अपने सेवा-काल में कभी भी उच्च पदों को प्राप्त नहीं कर सके। लेकिन उनमें से कुछ निकम्मे लोगों ने ब्रितानी-काल में अयोग्यता के आधार पर अपनी बर्खास्तगी को राष्ट्रीयता का बाना पहनाने की भी कोशिश की। आजादी के बाद जब 'घटिया' वंश के लोगों की सेवा करने में अनिच्छुक ब्रितानी अफसर इंग्लैण्ड लौट गए तो के० सी० आई० ओ० तथा आई० सी० ओ० अधिकारियों ने सेना के उच्च पदों को संभाल लिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय सेना का अचानक विस्तार किया गया। ब्रितानी भारतीय अफसरों की संख्या 500(कुल अफसर-संख्या 2,800)से अचानक बढ़ कर 8,500(कुल अफसर-संख्या 22,000)हो गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय सेना में हुई अफसरों की कमी पूरा करने को इमरजेंसी और शार्ट सर्विस नियमित कमीशन्ड अफसरों (ई० सी० और एस० एस० आर० सी०) की नियुक्ति की गई। इस कमी का कारण 2 लाख की सेना का द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक 25 लाख की संख्या तक बढ़ जाना था। अब भी अफसरों की भर्ती के लिए मुख्य मापदंड वही रहा—ब्रितानी हित के प्रति पूर्ण निष्ठा और वफादारी। तथापि विश्वयुद्ध के दिनों में व्याप्त भीषण बेरोजगारी के कारण राष्ट्रीयता की भावना से जुड़े अनेक लोग भी सेना में भरती हो गए। इसी दौरान अनेक ऐसे लोगों ने भी सेना में प्रवेश किया जिनकी शैक्षणिक और अन्य पृष्ठभूमि काफी उच्चस्तर की थी। अतः इस समय बड़ी मात्रा में नये अफसरों ने सेना में स्थान पाया, जिनमें से अनेक हर तरह से योग्य और कुशल थे। युद्ध के समय भरती किए गए इन अफसरों में यदि

किसीने ब्राउन के प्रति जरा भी गद्दारी दिखाई, या राष्ट्रीयता की ओर झुके, उसे अविलम्ब निकाल बाहर किया गया। विश्वयुद्ध काल में अनेक अफसर, जिनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल थी और जो अपने देश को स्वतंत्र देखना चाहते थे, विरोधी शक्तियों के हाथों बंदी बन जाने के बाद भारतीय राष्ट्रीय सेना (आई० एन० ए०) में शामिल हो गए। ब्रितानी सरकार द्वारा उन्हें युद्ध के बाद बर्खास्त करना या जेल तक भेजना भी तर्कसंगत कहा जा सकता था पर स्वतंत्र भारतीय सरकार का यह कर्त्तव्य था कि वह इन अफसरों को फिर से सेना में प्रवेश देती। यदि सुभाषचंद्र बोस जीवित होते तो ये अफसर स्वतंत्र भारत की सेना की धुरी बनते।

दिलचस्प बात यह है कि आई० एन० ए० के अफसरों के विषय में के० सी० आई० ओ० अधिकारियों की राय स्वतंत्रता के बाद भी ठेठ ब्रितानी ढंग की ही रही। यहां तक कि वे आई० एन० ए० अफसरों को गोली से उड़ा देने के पक्ष में थे। एक अवकाशप्राप्त के० सी० आई० ओ०(लेफ्टि० जनरल) के आई० एन० ए० अफसरों के विषय में स्टीफन पी० कोहीन के सामने प्रकट किए गए विचार उनकी पुस्तक 'इंडियन आर्मी' (पृष्ठ 156) में इस प्रकार हैं :

> "आई० एन० ए० ? इन सभी का युद्धस्थल में कोर्ट मार्शल किया जाना चाहिए था और उन्हें गोली से उड़ा देना चाहिए था (प्रश्न—क्या सभी को ?) हां, उन सभी को जो कसूरवार थे; उन्हें वापस लाना मूर्खता है। इस काम को सैनिक तरीके से निपटाना चाहिए था; उन्हें मामूली या बिना कोई सजा दिए छोड़ना बहुत बुरी बात थी। (आखिर) वे सैनिक थे और उन्होंने शपथ ली थी।"
>
> एक अन्य के० सी० आई० ओ० (अवकाशप्राप्त लेफ्टि० जन०) ने कोहीन को कहा था :
>
> "मैं ब्रितानियों को उतना ही नापसंद करता हूं जितना कोई अन्य, उन्होंने···लेकिन मैंने शपथ ग्रहण की थी और एक बार वचन देने के बाद उसे तोड़ा नहीं जाता। नेहरू और दूसरे राजनीतिज्ञों ने शपथ की महत्ता का बाद में अहसास किया था। यदि पाकिस्तान से युद्ध हुआ होता, तो क्या होता ? क्या ये लोग जो एक बार शपथ तोड़ चुके थे, फिर दुश्मन के पास चले जाते ?"

उपर्युक्त विचार के० सी० आई० ओ० अफसरों की सामान्य मानसिकता और चरित्र की मिसाल है। इनमें से किसी भी के० सी० आई० ओ० ने बाद में इन विचारों का खंडन नहीं किया।

भारत को आज़ादी दिलाने में आई० एन० ए० के निर्णायक योगदान की पुष्टि शोध-छात्र अवश्य करेंगे, पर ब्राउन साहब (के० सी० आई० ओ०) तो सम्भवतः भारत के अनंत काल तक गुलाम बने रहने को ही पसंद करते। ब्रिटेन में

प्रशिक्षित और उसी तरह से बने के० सी० आई० ओ० अब भी अपनी शाही दुनिया में रहते हैं, जैसाकि उनके विचारों से प्रकट होता है। यहां तक कि इस तरह के विचार किसी ब्रितानी अफसर ने भी व्यक्त न किए होंगे। मुझे भूतपूर्व आई० एन० ए० अफसरों और दूसरे उच्चस्तरीय अधिकारियों से बात करने का मौका मिला है और वे सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि आई० एन० ए० के अधिकारियों और अन्य कर्मचारियों को स्वतंत्र भारत की सेना में सेवा का अवसर न देकर, उन्हींके साथ नहीं, बल्कि देश के साथ अन्याय किया है। इन अधिकारियों और जवानों ने पूरी निष्ठा के साथ आजादी के लिए राजनैतिक लड़ाई के समांतर लड़ाई लड़ी थी। यह काफी दिलचस्प है कि जिन लोगों ने अंग्रेजों के जमाने में क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण जेल-यात्रा की थी, और अंग्रेजों के खिलाफ छिपकर या खुलेआम संघर्ष किया था, उन्होंने तो सेना बनाकर सरकार बना डाली, पर भारतीय सेना के वे अफसर और जवान, जिनके सामने युद्धबंदी बनने के सिवा और कोई चारा न था, और जो स्वदेश लौटकर, ब्रितानी सेना की नौकरी छोड़कर स्वतंत्रता संग्राम में शामिल हो गए थे, उन्हें स्वतंत्र भारत की सेवा में कोई स्थान नहीं मिला। यह के० सी० आई० ओ० अफसरों के कठोर रवैये के कारण हुआ जो अपनी पदोन्नति के लिए ज्यादा चिंतित नजर आते थे। ऐसा संदेश तत्कालीन स्थल सेनाध्यक्ष जनरल ऑकिनलेक ने प्रधानमंत्री नेहरू को दिया था जिसे डॉ० के० के० घोष ने अपनी पुस्तक 'द इंडियन नेशनल आर्मी' में प्रस्तुत किया है।

'द इंडियन नेशनल आर्मी' की भूमिका में प्रमुख इतिहासज्ञ डॉ० आर० सी० मजुमदार ने इसे भारतीय राष्ट्रीय सेना का प्रथम विस्तृत विवरण बताते हुए लिखा है कि "डॉ० घोष द्वारा इस मुख्य बात पर जोर दिया जाना कि यदि आई० एन० ए० न होता तो ब्रिटेन भारत को 1947 में आजादी नहीं देता, मुझे काफी सही निष्कर्ष लगा, जैसाकि मैंने अपनी किताबों में लिखा है।" डॉ० घोष ने काफी प्रभावी ढंग से समझाया है कि कैसे आई० एन० ए० के मुकदमे से देश में उत्पन्न क्रांतिकारी स्थितियों के फलस्वरूप जल सेना की बगावत को असली बल मिला। यहां तक कि महात्मा गांधी ने भी हरिजन में लिखा था, "आई० एन० ए० के सम्मोहन ने हमपर भी जादुई असर डाला है।"

आई० एन० ए० अफसरों का इतना प्रभाव था कि डॉ० बी० पट्टाभि सीतारमय्या ने अपनी पुस्तक 'हिस्टरी आफ इंडियन नेशनल कांग्रेस' में लिखा है, "एक क्षण के लिए तो आई०एन०ए० अफसरों ने राष्ट्रीय नेताओं के नाम को भी निष्प्रभ कर दिया। लगा, जैसे आई० एन० ए० ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को ग्रहणग्रस्त कर दिया हो और विदेश में अर्जित युद्ध तथा हिंसक कार्रवाइयों के लाभों ने स्वदेश में हुई अहिंसा की विजयों को धुंधला बना दिया हो।" यह आई० एन० ए० द्वारा प्रेरित जल सेना का गदर, बढ़ता असंतोष और हड़तालें, तथा स्थल और वायुसेना

के लोगों द्वारा की गई क्रांतिकारी कार्रवाइयां थीं जिससे स्वतंत्रता-संग्राम की गति काफी तेज हुई। डॉ० घोष के अनुसार, "आई० एन० ए० द्वारा देशभर में फैलाई जा रही क्रांतिकारी भावना ने कांग्रेसी नेतृत्व को भी भयभीत कर दिया था।" अपनी सीमित दृष्टि और खुदगर्ज रवैये के कारण के० सी० आई० ओ० अफसर सेना की भलाई के स्थान पर अपने निजी भविष्य और शीघ्र पदोन्नतियों के लिए ज्यादा चिंतित थे। यह अंग्रेजों की नीति के अनुकूल ही था कि वे अपने पीछे सेना की उच्चकमान में कुछ ऐसे पश्चिमोन्मुखी लोगों को छोड़ जाते, जिन्हें आजादी के बाद भी आसानी से काबू में रखा जा सकता था। अतः इस बात का खास ध्यान रखना उनके लिए जरूरी ही था कि भारतीय सेना में राष्ट्रीयता का रंग भरने वाले आई० एन० ए० अफसरों को स्थान न मिले।

यह स्वतंत्र भारत की सेना की बुनियाद में लगी एक बहुत बड़ी चोट थी कि उसमें ब्रिटेन और उसके तौर-तरीकों के प्रति पूरी तरह से वफादार अफसरों के साथ उच्च राष्ट्रवादी विचारधारा वाले कुछ प्रहरी के समान अफसर सेना की सेवा से वंचित रह गए। हालांकि यह भी कम दिलचस्प नहीं कि प्रत्येक के० सी० आई० ओ० और आई० सी० ओ० अफसर स्वतंत्र भारतीय सेना में कर्नल या जनरल का स्थान पा गया। वे रातोंरात कैप्टन और मेजर से कर्नल तथा जनरल के पदों तक पहुंच गए, जबकि अनेक योग्य ई० सी० ओ० और एस० एस० आर० सी० अफसरों को एक वरिष्ठ अधिकारी (लेफ्टिनेंट कर्नल) बनने के लिए भी काफी सालों तक इंतजार करना पड़ा। तब तक हमारे राजनैतिक नेता और आम जनता, कुछ व्यक्तिगत मित्रता के मामलों को छोड़कर, ब्रितानी भारतीय सेना से पूरी तरह अलग-थलग थे। अत: आई० एन० ए० अधिकारियों को सेना में वापस बुलाने के लिए सम्भवतः कोई गंभीर और निष्पक्ष जांच नहीं की गई। खास कर ऐसे समय, जबकि युद्धपूर्व के नियमित अधिकारियों में उन्हें सेना में वापस न खपने देने की कोशिश की जा रही थी। उन्हें वापस खपाने के पक्ष और विपक्ष में अनेक दलीलें दी जा सकती हैं, लेकिन दुनिया-भर में कहीं भी अपने देश की आजादी के लिए लड़ने वाले अफसरों को इस तरह से दूर नहीं रखा गया।

नियुक्तियों और पदोन्नतियों का एकमात्र मापदंड वरिष्ठता होने के कारण स्वतंत्र भारत की स्थल सेना सेनाध्यक्ष के रूप में श्रेष्ठतम व्यक्ति को न चुन पाने के लिए काफी लाचार रही, जिसके लिए उसे नुकसान भी उठाना पड़ा। उल्लेखनीय है कि भारतीय सेना के प्रथम मुख्य कमांडर जनरल करिअप्पा ने स्वयं को एक सैनिक के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया था क्योंकि लगभग 20 वर्ष की सेवा के बाद भी 1939 में उन्होंने एक स्थायी मुख्यालय पर स्टाफ कैप्टन के एक मामूली पद पर ही काम किया था, यद्यपि वे उस समय एक स्वायत्त मेजर थे (1939 की स्थल सेना सूची देखें)। दूसरी ओर, युद्धपूर्व के कुछ नियमित अधिकारियों में से

एक थिमय्या की मुश्किल से 15 वर्ष की सेवा के बाद ही एक सक्रिय डिविज़न के मेजर के रूप में जनरल स्टाफ आफीसर (ऑपरेशन्स) के एक अति संवेदी और महत्वपूर्ण पद के लिए योग्य समझा गया। मुझे धुंधली-सी याद है कि चालीसवें दशक के आरंभ में जनरल करिअप्पा ने हम लोगों को मितव्ययता की दृष्टि से साइकल खरीदने की सलाह दी थी तथा भारतीय अधिकारियों के वेतन में कटौती की भी सहमति दी थी। हां, के० सी० आई० ओ० अफसर इसके अपवाद थे, जिन्हें ऊंचे 'बड़ा साहिब' वेतनमान और परंपरागत सुविधाएं दिलाने के लिए—जिनमें दो वर्ष में एक बार सहायतार्थ पर इंग्लैंड जाने की सुविधा भी शामिल थी—श्री करिअप्पा ने जी-जान लगा दी थी। उन्होंने नए नियमित अफसरों को वेतन-सुविधाओं और रुतबे की दृष्टि से प्रशासनिक और समवर्गी सेवाओं में उनके समकक्षों के मुकाबले काफी हानिकर स्थिति में रख छोड़ा था, जबकि के० सी० आई० ओ० अफसरों के रुतबे और वेतन-सुविधाओं में कोई रद्दोबदल उन्होंने नहीं होने दी। इस प्रकार उन्होंने सेना में अफसरों की दो जमातें खड़ी करने की कोशिश की जिससे आरक्षी सेनाओं में मानसिक स्तर पर काफी असंतोष फैला। मुझे मेजर जनरल अटल ने बताया था कि उन जैसे कई के० सी० आई० ओ० इस तरह के मनमाने भेदभाव के विरुद्ध थे।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर स्थल सेना का भाग्य उचित अनुभव, पृष्ठभूमि और राष्ट्रीय प्रतिबद्धता से असमायग्रस्त कुछ पश्चिमोन्मुखी उच्च अधिकारियों के हाथों में सौंप दिया गया। दुर्भाग्यवश इन अफसरों ने आजादी के बाद की भारतीय स्थल सेना का इस्पाती ढांचा तैयार कर लिया। सेना के लिए यह काफी उपयोगी रहता यदि आजादी के बाद जनता और समाचारपत्रों ने उसे राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से जोड़ने की गरज से सेना के मामलों में जरा भी दिलचस्पी ली होती। समाचारपत्रों और आम जनता में सेनाओं के मामलों पर बातचीत करने के मार्ग में आनेवाली इस्पाती चादर को दूर कर देना चाहिए।

1947 में जब अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कारणों से देश को आजादी मिली (जिसमें समवत आई० एन० ए० तथा जल और वायु सेना की बगावत की भूमिका निर्णायक थी) स्थल सेना की भर्ती की नीति में परिवर्तन हुआ। चयन का मापदण्ड बदल देने के कारण अफसरों की एक नई पीढ़ी को प्रतिस्पर्धा के आधार पर सेना में प्रवेश करने का अवसर मिला। ये अफसर राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत, देशभक्ति के उत्साह से परिपूर्ण, सैनिक जीवन के प्रेमी तथा ब्रिटानी विचारधारा के विरोधी थे। चुनाव सामान्यतया निष्पक्ष और उचित होता था। चयन समिति में अधिकांशतः इमरजेंसी कमीशन्ड अफसर होते थे जिनके रवैये युद्धपूर्व के के० सी० आई० ओ० अफसरों से भिन्न थे। परिणामस्वरूप आजादी के आरंभिक दिनों में विश्वविद्यालयों और कालेजों से निकले अनेक होनहार नौजवानों ने सेना में प्रवेश किया। देशभक्ति की भावना से जुड़े इन नवयुवकों का आगमन सेना में एक

जोखिमपूर्ण और संतुष्ट जीवन विताने में था। लेकिन के०सी०आई०ओ० अफसरों द्वारा तैयार इस्पाती ढांचा तथा पुराने ब्रिटिशकालीन कायदे-कानून जनता और समाचारपत्रों के हस्तक्षेप के अभाव में जारी रहे, जिससे सेना में अस्वस्थ परंपराओं ने जन्म लिया। अफसरों के मेस पार्टियों, शराब और औरतों से आवाद रहते थे। के० सी० आई० ओ० के आदर्श वाक्य—ऊंचा जीवन निम्न विचार—के अनुसार ज़्यादा ज़ोर तरह-तरह के मेसों और पोशाकों तथा तमाम तरह की तड़क-भड़क पर दिया जाता रहा। भारतीय सेना में इस परंपरा ने अपनी जड़ें संभवत: काफी मज़वूत वना ली हैं।

के० सी० आई० ओ० अफसरों द्वारा पेश की गई मिसालों से प्रभावित युवा कर्नलों और दूसरे अफसरों ने शराव, औरत तथा धन के मोह में फंसकर अवांछित हरकतें करनी शुरू कर दीं। आरक्षी सेनाओं के भीतरी मामले निहित स्वार्थी तत्त्वों, जिनमें विदेशी एजेंसियां भी शामिल हैं, की कृपा से इसी तरह अंधकारग्रस्त रहे। ऐसी स्थिति में ये स्वार्थी तत्त्व आमोद-प्रमोद के शौकीन उच्चाधिकारियों के आशीर्वाद से भारतीय सेनाओं में अपने निशानों को आसानी से साध सकते थे। राजनीतिज्ञों के पास भी शायद समझ और चरित्र की कमी थी जो वे आरक्षी सेनाओं और प्रेस तथा जनता के बीच से इस्पाती चादर को नहीं हटा पाए। यह स्थिति स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के नए स्थल सेना अफसरों के लिए काफी वड़ी अड़चन सिद्ध हुई जो मजवूरन अपने सेवाकाल के आरंभिक दिनों में ही व्यावसायिकता और कर्तव्य के प्रति निष्ठा के वजाय अवांछित परंपराओं से ही बुरी तरह प्रभावित हुए।

कृष्ण मेनन के रक्षामंत्री वनने के वाद जव उनके द्वारा पहली वार वड़े स्तर पर हस्तक्षेप शुरू हुआ तो जनरलों की वास्तविक योग्यता का पर्दाफाश होने लगा। जनसंपर्क के कार्य को सौहार्द और चतुरता से करने के वजाय कृष्ण मेनन ने सेना के उच्चाधिकारियों की सीमित वौद्धिक और व्यावसायिक पृष्ठभूमि का लाभ उठाते हुए उनकी खिल्ली उड़ानी शुरू कर दी। अभी तक सेना की उच्चकमान पुराने अंग्रेजी कानूनों के आधार पर उच्च अफसरों की पदोन्नति के काम को मनमाने ढंग से करती थी, जिसके अनुसार मुख्य कमांडर को मनमानी शक्ति प्राप्त थी। लेकिन यह आजादी के वाद संसद द्वारा पास किए गए नए आर्मी ऐक्ट के विरुद्ध था। अव श्री मेनन भी चाहते थे कि उनके 'गुट' को भी इसी तरह के अनियमित तरीकों से ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ी मिल जाए। लेकिन जनरल इसे नहीं चाहते थे, और परिणामस्वरूप सेना में गुटवंदी, झगड़े, और दरारें पड़नी शुरू हो गईं। पश्चिमोन्मुखी सभी शिखर अफसर श्री मेनन से छुटकारा पाने के लिए मजवूर हो गए। श्री मेनन के आश्रित अभी अल्पमत में ही थे क्योंकि उनका 'गुट' वनना अभी कुछ समय पहले ही शुरू हुआ था।

सेना का उपर्युक्त हाल-चाल मेनन की प्रेरणा से जारी की गई नेहरू की नीतियां और भारत-चीन सीमाओं पर बढ़ते विवाद—सबने मिलकर विदेशी एजेंसियों को अपने यहां की सरकारों की जरूरतों के मुताबिक स्थिति से भरपूर लाभ उठाने का सुनहरी मौका दिया, जैसाकि आगे के एक अध्याय में हम देखेंगे।

अध्याय 2

नेफा : क्षेत्र और स्थलाकृति

1962 के भारत-चीन युद्ध की समीक्षा करने वाले अधिकांश लेखकों ने नेफा की स्थलाकृति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। किसी विवेकपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए यह आवश्यक है कि सैनिक गतिविधियों वाले क्षेत्र के आकार-प्रकार के बारे में सही जानकारी प्राप्त की जाए। लेखकों ने भारतीय स्थल सेना के मार्ग में आई कठिनाइयों और चीन के लिए सुगम तथा हितकर क्षेत्र के विषय में सामान्य टिप्पणियां की हैं। ये टिप्पणियां वहां तक तो ठीक हैं, जब वे न्यामका चू क्षेत्र में अक्तूबर, 1962 में 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड द्वारा लड़े गए युद्ध के प्रथम चरण का ज़िक्र करते हैं, लेकिन क्षेत्र-संबंधी ऐसा मूल्यांकन नवम्बर, 1962 में की गई द्वितीय चरण की सैनिक कार्रवाइयों पर लागू नहीं होता। इस चरण में, जिसमें 4 इन्फेंट्री ब्रिगेड ने भाग लिया था, युद्धस्थल भारतीय स्थल सेना के काफी पक्ष में हो गया था। शायद ये लेखक सरकार की उन टिप्पणियों से धोखा खा गए, जिनमें चीनी सेना के मुकाबले भारतीय सेना की क्षेत्र-संबंधी और दूसरी कठिनाइयों को काफी तूल देकर उभारा गया था।

यदि हम भारत के मानचित्र पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट होगा कि भारतीय सीमा और चीन की मुख्य भूमि पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्रों पर क्रमशः 3,000 से 4,000 किलोमीटर लंबे तिब्वत क्षेत्र से एक-दूसरे से अलग होती हैं। नेफा एक पहाड़ी और जंगली क्षेत्र है। नेफा होकर तिब्वत से भारत आने के लिए केवल दो महत्त्वपूर्ण मार्ग हैं। इनमें से एक तोवांग होकर मानस घाटी मार्ग से तथा दूसरा वालोंग के रास्ते लोहित घाटी मार्ग से होकर जाता है। नेफा होकर तिब्वत से भारत आने वाले दूसरे छोटे रास्तों से मुश्किल से एक कंपनी / बटालियन (100 से 1,000 सैनिक) को लेकर ही आया जा सकता है जोकि आत्मनिर्भरता के आधार पर दो सप्ताह से ज्यादा नहीं ठहर सकते। इतनी छोटी संख्या में सैन्यदल का प्रवेश मामूली राजनैतिक या सैनिक महत्त्व रखता है। एक रेलहैड मिसामारी (कामेंग प्रखंड) पर और दूसरा वालोंग के लिए (लोहित प्रखंड) तिनसुकिया पर है।

रेल / सड़क सीमा से सेला 200 किलोमीटर दूर है। दो वर्ष के रिकार्ड समय में हमारे सीमा-सड़क-संगठन ने सेला तक एक-टन ट्रक सड़क बना डाली थी। सेला से आगे तवांग तक जीप मार्ग से जाना होता था। वालोंग क्षेत्र में रसद ज्यादातर हवाई मार्ग से ही पहुंचाई जाती थी। हालांकि दोनों ओर से उत्तरन बिंदु से गन्तव्य की दूरी 30 से 40 मिनट की उड़ान सीमा के भीतर थी। हमारी सेनाओं के रसद-भंडार भी पूरी तरह पहुंच के भीतर थे।

योमुना और चाकू से रास्ते फुट हिल्स से 'ईगल्स नेस्ट' नामक स्थान तक 9,500 फुट ऊंची सड़क जाती है। यह मार्ग घने जंगलों, खड़ी चढ़ाई और अत्यंत दुरूह क्षेत्र वाला है। आगे बोमडिला होकर अगली पर्वतमाला पार करने के लिए मार्ग कुछ ढलावदार हो गया है। बोमडिला फुट हिल्स से लगभग 100 किलोमीटर दूर है। यह लगभग 9,500 फुट की ऊंचाई पर स्थित है। बोमडिला से दिरांग ज़ोंग-पोशिंग ला तथा बेटोंग के लिए रास्ते जाते हैं। बोमडिला के इर्द-गिर्द ऊंचा मैदान है। बड़ी तादाद में प्रवेश करने वाले किसी भी सैन्य दल को यहीं से होकर गुजरना होगा।

बोमडिला से दिरांग ज़ोंग की ओर मैदान कुछ ढलवां हो गए हैं। 5,500 फुट की ऊंचाई पर स्थित दिराग ज़ोंग एक महत्त्वपूर्ण गांव है, जहां उत्तरी लुंगयाग-मांगनी मार्ग मिलते हैं। दिराग ज़ोंग के किनारे दिराग नदी (जिसे थाम्भकू चू भी कहा जाता है) बहती है। स्थानीय जनता को प्रकृति की एक खूबसूरत देन के रूप में कहा एक लंबी फैली हुई घाटी है। आसपास के गांव नदी को एक बड़ा वरदान मानते हैं। इस मार्ग पर यह सबसे बड़ी और लंबी घाटी है, जिसे सीमा-सड़क-संगठन ने तवांग तक सड़क बनाते समय एक महत्त्वपूर्ण आधार के रूप में प्रयोग किया था। बाद में शायद इसके प्राकृतिक सौन्दर्य और बनी-बनाई जगह से आकर्षित होकर संभागीय मुख्यालय के कर्मचारियों ने सीमा-सड़क-संगठन को हटाकर यहां अपना परिचालन मुख्यालय स्थापित कर लिया था। यह न्यामका चू से सातवीं ब्रिगेड को वापस बुला लेने के बाद हुआ था।

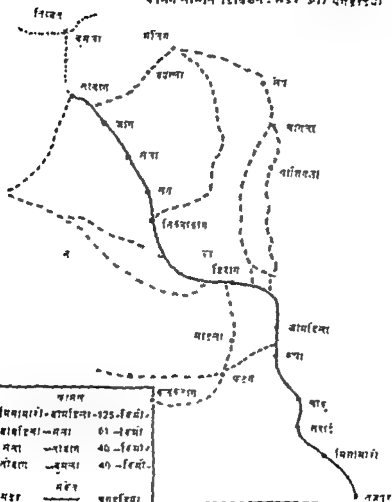
दिरांग ज़ोंग से नदी के किनारे-किनारे चलकर सड़क सैपर कैंप तक जाती है, और बाद में सैंगे ज़ोंग तथा सेला की ओर चढ़ जाती है। तीसरी महत्त्वपूर्ण पर्वतमाला तक पहुंचने के लिए सेला तक पहले सुगम, पर बाद में सीधी और कठिन चढ़ाई है। इसी रास्ते निकमादोंग है जो सेला के उपमार्गों का मुख्य केंद्र है। चीनियों ने इसपर कब्जा कर और सेला के पीछे मार्ग अवरोध खड़ा करके इसे सैनिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण बिंदु बना दिया था। यह क्षेत्र घने जंगलों से ढका है जो सेंगे ज़ोंग-सेला की चढ़ाई शुरू होते ही ओझल होने लगता है। शुरू में चीड़ के जंगल पड़ते हैं, लेकिन सेला पहुंचते-पहुंचते सब खत्म हो जाते हैं।

14,000 फुट की ऊंचाई पर स्थित सेला एक मार्ग का नाम है (ला का अर्थ

मार्ग होता है)। यह एक वीच का रास्ता है जिसके दक्षिण-पूर्व में डिरांग ज़ोंग तथा उत्तर-पश्चिम में तोवांग है। उसकी दूरी उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पूर्व तक फैली है। प्रतिरक्षा की दृष्टि से यह क्षेत्र आदर्श है जहां केंद्र रखकर सेनाएं किसी भी दिशा में कार्रवाई कर सकती हैं। यही नहीं, यहां से हर ओर अपने गश्ती दल भेजकर दुश्मन की संभावित वढ़त को भी रोका जा सकता है। इस क्षेत्र का सर्वेक्षण लेफ्टि० जनरल हरवख्शसिंह ने किया था जो लेफ्टि० जन० कौल की अस्वस्थता के कारण दिल्ली लौट जाने के वाद कार्यवाहक कोर कमांडर वने थे। इसका महत्त्व-पूर्ण क्षेत्र के रूप में चयन हुआ था जिसे लेफ्टि० जन० कौल ने भी स्वीकार किया था। इस चयन की सहमति ले० जन० सेन ने भी दी थी। सेला में सैन्य दल और तोपखाना लगाए जाने के लिए भरपूर स्थान था। सेला से आगे 40 किलोमीटर दूरी पर कामेंग कस्वा था जो 10,500 फुट की ऊंचाई पर स्थित था। तोवांग की ओर जाते समय शुरू में सीधी, पर वाद में आसान चढ़ाई है। हमारी सेनाएं नदी के इसी तरफ वाले हिस्से की ओर पीछे हटी थीं। तोवांग से हटने पर जांग क्षेत्र में गढ़वाल बटालियन ने मोर्चा संभाला था। चीनियों से इस वटालियन का रुख उत्तर की ओर था।

तोवांग से आगे की सड़क न्यामका चू पर स्थित ढोला सीमा चौकी तक पहुंचती है। हिमालय की ऊंची पर्वत श्रृंखलाएं तिव्वत को भारत से अलग करती हैं। दिसंवर के मध्य से अप्रैल तक तिव्वत के सभी मार्ग वंद रहते हैं। अतः वड़ी तादाद में वहां कोई गतिविधि नहीं की जा सकती। हिमालय की पर्वतमालाएं उत्तरी सीमा की ओर से की जाने वाली हर वड़ी कार्रवाई के विरुद्ध सर्वश्रेष्ठ प्रहरी हैं, अलवत्ता 1962 के चीन-भारत युद्ध ने संभवतः इस वात को विपरीत सिद्ध कर दिया। 1962 की पराजय के विषय में एक वार सच्चाई जानने के वाद महान हिमालय पर्वत की साख हमारी उत्तरी सीमाओं के रक्षक के रूप में फिर से कायम हो जाएगी।

चूंकि कामेंग सीमा प्रभाग की पहुंच पूर्व-पश्चिम तक लंवी है, अतः उत्तरी सीमाओं पर की गई सैनिक गतिविधियां देश के लिए काफी महंगी पड़ती हैं। सड़क-निर्माण में यहां वहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। फुट हिल्स और हिमालय के वीच तीन महत्त्वपूर्ण पर्वतमालाएं आड़े आती हैं। किसी भी आक्रमण-कारी फौज के लिए यहां आकर दो सप्ताह से ज्यादा टिकने के लिए सड़क किनारे के सेला और वोमडिला जैसे मजवूत विंदुओं को पहले साफ करना ज़रूरी है। यहीं नहीं, उत्तर से कामेंग की ओर जितने भीतर यह फौज घुसने की कोशिश करेगी, उसकी कठिनाइयां उसी गुणात्मक गति से वढ़ती रहेंगी। साथ ही फुट हिल्स-तोवांग मार्ग पर घने जंगलों और पहाड़ियों से भरे क्षेत्र को आपस में ज़ोड़ती अनेक पग-डंडियां हैं। इनमे से अधिकांश पर केवल पैदल ही चला जा सकता है। सिर्फ कहीं-



सड़कों के फासले

गिनिग
गोरमो
चीन
पा ओर्ना
गरतोक
तिब्बत
आटो
उनरी
टाहोणी
चेंगतू
ल्हासा
नेपाल
भूटान
बुमला
मिसामारी
भारत
क्यूनमिंग

फासले

चेंगतू -ल्हामा 2400 किमी०

ल्हासा -बुमला 415 किमी०

बुमला-मिमामारी 170 किमी०

संकेत

रेलवे

सड़क

पैमाने के अनुसार नहीं.

व्यवस्था के एक सीमा से ज़्यादा न फैलने तक वे डटकर युद्ध कर सकते थे और इसी कारण न्यामका चू क्षेत्र में लड़ी गई पहली लड़ाई में चीन को लाभ हुआ। लेकिन उनके एक वार तोवांग से आगे वढ़ते ही भारतीय सेना हर तरह से उनके मुकावले लाभकारी स्थिति में थी।

चीन के संवंध में भारतीय प्रतिरक्षा के ढांचे को देखने और निजी जानकारी वढ़ाने की गरज से मैंने रसद गिराने वाले हवाई दस्ते के साथ पूरे नेफा क्षेत्र पर उड़ान भरी थी। एक वरिष्ठ अफसर की हैसियत से प्रशिक्षण कार्यक्रमों और युद्ध-क्रीड़ाओं में भाग लेने के लिए मैंने नेफा स्थित पांचों संभागों की भी यात्रा की थी। इस प्रकार मैंने युद्ध-क्षेत्र को स्थल और नभ, दोनों स्थानों से देखा था। अतः मैं इन स्थानों के विपय में कुछ जानकारी के साथ वोल सकता हूं। मैंने स्वयं लद्दाख की भी हवाई यात्रा की थी और प्रतिरक्षा समस्याओं के आकार को, खासकर उस क्षेत्र की गतिविधियों और व्यवस्था को विस्तार से देखा था। हमारी समस्याएं चीन के मुकावले—जिन्हें अपनी फौज और रसद का हर सामान 3,000 से 4,000 किलोमीटर दूर चीनी क्षेत्र से मंगवाकर नेफा और लद्दाख तक पहुंचाना पड़ता था—आकार में वहुत कम थीं। केवल अग्रिम क्षेत्रों के लिए रसद का सीमित भंडार ही रखा जा सकता था जवकि उसके लिए भी पर्याप्त समय और श्रम की जरूरत थी। इसे समझने के लिए किसी सैन्य पृष्ठभूमि की ज़रूरत नहीं थी, न ही वहुत उच्चस्तरीय वुद्धिमत्ता की थी। अतः नेहरू ने जव चीनियों को खदेड़ने की वात कही थी, (हालांकि उन्होंने किसी सैनिक-राजनैतिक दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया था) तो उन्हें तथ्यों की पूरी जानकारी थी तथा यह अहसास था कि चीनी अपनी लाचारी के कारण भारत को कोई वड़ा सामरिक नुकसान नहीं पहुंचा सकते।

निश्चय ही मेजर ऐजर ओ'वालांस और हमारे अनेक दूसरे अफसर जो मंजे हुए पेशेवर सैनिक थे, समस्या से भली भांति अवगत थे। नववंर, 1962 में नेफा में जो कुछ भी वास्तव में घटित हुआ, वहां किसी समझदार पेशेवर सैनिक को अचरज में डाल सकता था। लेकिन सवसे दुर्भाग्यपूर्ण यही है कि इस पहलू पर कभी गंभीरता से नहीं सोचा गया। कौल और दलवी सहित सभी लेखकों ने इस पक्ष की कहीं निष्पक्ष समीक्षा नहीं की। उन्होंने इस वात को सिद्ध करने का प्रयास किया कि पूरी कार्रवाई के दौरान चीनी भारत की अपेक्षा भौगोलिक दृष्टि से लाभकारी स्थिति में थे। कौल और एक सीमा तक दलवी ने भी भारत की हार को तर्कसंगत ठहराने वाली राजनेताओं और समाचारपत्रों की दलीलों का सहारा लिया है। वास्तविकता यह है कि हमारी फौजें, जो अग्नि शक्ति में चीन से वेहतर और संख्या में वरावर थीं, ऐसे स्थल पर लड़ रही थीं, जहां उन्हें विस्तृत सर्वेक्षण और उनकी अपनी इच्छा के अनुसार नियुक्त किया था, जवकि चीनियों ने

ऐसी धरती पर पुनर्पैठ की थी, जहां के लोग उनके प्रति क्रुद्ध थे नथ। उन्हें जानकारी भी नहीं थी। वे सड़कों और पगडंडियों के प्रति पूर्णतः अनजा॰. —यदि उन्हें उसकी कोई पूर्व जानकारी थी भी, तो भी उन्होंने वहां सैनिक कार्यवाई तो नहीं ही की थी। हमारे पक्ष में एक अन्य लाभकारी बात यह थी कि हमने एक अपराजेय क्षेत्र—सेला, को चुना था (इसे कार्यवाहक कोर कमांडर ले॰ जन॰ हरबख्शसिंह ने अपराजेय गढ़ कहा था)। विषय की खाल निकाले बिना मैं इतना कह सकता हूं कि सेला जैसे प्रबल गढ़ पर स्थित एक मामूली फौज भी (जैसीकि भारतीय सेना उस समय थी) अपने से कहीं 5-10 गुना बड़ी फौज की भी धज्जियां उड़ा सकती थी, बशर्ते उसे लड़ने का मौका दिया जाता। ऐसा क्यों नहीं हुआ, यह एक भिन्न कथा है, जिसे पुस्तक के बाद के हिस्से में दिया गया है। इस असफलता के लिए अनेक कारण और सफाइयां दी गईं जिन्हें आज तक सही ढंग से नहीं जांचा गया और विषय को निहित स्वार्थी तत्त्वों ने बखूबी टालकर राजनैतिक रंग दे दिया।

अतः जहां तक युद्ध के एक मुख्य पक्ष, रणक्षेत्र का संबंध है, नवंबर, 1962 की सैनिक कार्रवाई के वास्तविक स्थलों—सेला और बोमडिला—में हम चीनियों की अपेक्षा ज्यादा बेहतर स्थिति में थे। कामेंग प्रखंड की आदिवासी जनसंख्या मूलतः हमारे पक्ष में थी। सीमा-सड़क-संगठन ने उनकी मदद करके तथा मैत्रीपूर्ण व्यहार से उनके साथ काफी घनिष्ठ संबंध बना लिए थे। यदि कुछ तत्त्व हमसे नाराज थे भी, तो उनकी संख्या नगण्य थी, जबकि दूसरी ओर चीन का तिब्बत में एक नाराज जनसंख्या से पाला पड़ा था। इनमें खपा लोग पूरी तरह से उनके विरुद्ध थे जो अक्सर चीनियों की संचार-व्यवस्था में बाधा डालते थे। तिब्बत से बड़ी तादाद में लोग शरणार्थी के रूप में भारत आ चुके थे जो हमारे गुप्तचर विभाग की मदद करने को हमेशा तैयार थे। उन लोगों को इस काम में लगाया जाना चाहिए था, ठीक वैसे ही, जैसे चीनियों ने युद्धकाल के दौरान और यहां तक कि इससे पहले भी बिना किसी झिझक के कुछ भारतीयों को गुप्तचरी के काम में लगाया था। यदि हमने ऐसा नहीं किया (कुछ अज्ञात कारणों की वजह से), तो किसीने संभवतः जानबूझकर एक बहुत बड़ी गलती की। इंटेलिजेंस ब्यूरो के तत्कालीन निदेशक बी॰एन॰मलिक ने स्थल सेना को दोषी ठहराया तथा लेफ्टि॰ जन॰ कौल ने चीनी गतिविधियों के लिए इंटेलिजेंस ब्यूरो को असफलता के लिए दोषी ठहराया। अन्य लोगों ने तथ्यों को जाने बिना अक्तूबर-नवंबर, 1962 में जो कुछ हुआ, उसके लिए मेनन और नेहरू के मत्थे दोष मढ़ दिया। इस गुत्थी की विस्तृत जांच की जानी चाहिए कि जब वास्तविक युद्ध-क्षेत्रों में नवंबर, 1962 में हमारी सेनाएं भौगोलिक दृष्टि से चीनियों से बेहतर स्थिति में थीं तो उसका लाभ किन अज्ञात कारणों से नहीं उठाया गया।

अध्याय 3

पूर्वरंग

"विजय तलवार से नहीं, साहस से अर्जित की जाती है।"

1951 में ही तत्कालीन गृहमंत्री स्व० सरदार वल्लभभाई पटेल चीनियों की नीयत पर संदेह व्यक्त कर चुके थे, जब उन्होंने तिब्बत के अति सामरिक महत्त्व के क्षेत्र में घुसकर वहां की यथास्थिति को गड़बड़ा दिया था। सामरिक महत्त्व के मामलों में सरदार की योग्यता और दूरदर्शिता की पहचान नेहरू को लिखे गए उनके पत्र से होती है (देखें परिशिष्ट—क)। श्री नेहरू वैधानिक और सामरिक मामलों में अपनी सीमित समझ से भली भांति परिचित थे, अतः उन्होंने संघर्ष की तैयारी के बजाय विकास कार्यों को ही प्राथमिकता देना श्रेयस्कर समझा। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा था कि चीनियों की महत्त्वाकांक्षाएं तिब्बत से भी आगे बढ़ सकती हैं। यथास्थिति बनाए रखने में कुछ पश्चिमी ताकतें (विशेपकर अमेरिका) भी रुचि ले रही थीं। वे आवश्यकता पड़ने पर सैनिक हस्तक्षेप को भी तैयार थीं, पर यह आश्चर्य की वात है कि नेहरू ने उनके इस विचार को ठुकरा दिया। विदेशी ताकतें भारत की इच्छा और पूर्ण समर्थन के साथ ही यथास्थिति बनाए रखने में मदद कर सकती थीं, लेकिन विदेश नीति पर नेहरू के सिद्धांत और नीतियां इस मार्ग में आड़े आईं। नेहरू पर कृष्ण मेनन का प्रभाव इसके लिए ज्यादा जिम्मेदार था। चीन द्वारा लद्दाख में अक्साई चिन के भारतीय क्षेत्र से सड़क बना लेने के वाद ही सीमा-निर्धारण के विषय में लंबे समय से ठप्प हमारा पत्र-व्यवहार 1959 में शुरू हुआ। इसीसे कुछ समय वाद सीमावर्ती क्षेत्रों में अग्रवर्ती नीति आरंभ हुई। 1959 में भारत ने 'ऑपरेशन ओंकार' परिचालित किया तथा लद्दाख और नेफा में अनेक सैनिक चौकियां स्थापित कीं ताकि तिब्बत के भारतीय सीमावर्ती क्षेत्र में अपना आधिपत्य बना रहे।

अप्रैल, 1959 में जब दलाई लामा ने तिब्बत से भागकर भारत में राजनैतिक शरण मांगी तो भारत-चीन संबंध और बिगड़ गए। इसी वर्ष अक्तूबर में चीनियों

द्वारा लद्दाख में 10 भारतीय पुलिस कर्मचारियों को मौत के घाट उतार-
दोनों देशों के सम्बंधों पर एक और आघात लगा। चीनियों द्वारा भारतीय सीमा
के अतिक्रमण की घटनाएं दिन व दिन बढ़ने लगीं। अनेक सीमावर्ती इलाके, जैसे
—हॉट स्प्रिंगस्, गलवान घाटी, बाड़ा होटी, लोंग जू और ढोला—भारतीय और
चीनी सेनाओं के मुठभेड़-स्थल बन गए, जिसके फलस्वरूप बाद में चलकर अक्तूबर,
1962 में अंतिम धमाका हुआ। नेहरू ने महसूस किया कि चीनियों को भारतीय
सीमाओं की पवित्रता के विषय में बताना ही होगा।

चीनी अब तक नेफा के पूरे क्षेत्र पर दावा करने लगे थे, अत: उनके इस बदलते हुए रुख को समझकर नेफा की रक्षा का भार 1959 में सेना को सौंप दिया गया, तथा 4 इन्फेंट्री डिविजन को आसाम जाने के आदेश दे दिए गए। तब तक नेफा में नियुक्त आसाम राइफल्स की क्षमता बढ़ चुकी थी और 38 नई प्लाटून पोस्टें स्थापित की जा रही थीं। 4 इन्फेंट्री डिविजन की 5वीं, 7वीं और 11वीं इन्फेंट्री ब्रिगेड इस तरह नियुक्त की गई थीं कि वे नेफा और नागालैंड, दोनों स्थानों की देखभाल कर सकें। कामेंग फ्रंटियर डिविजन की रक्षा का भार 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड को तथा नेफा के शेष क्षेत्र की रक्षा की जिम्मेदारी 5 इन्फेंट्री ब्रिगेड को सौंप दी गई। 11 इन्फेंट्री ब्रिगेड को नागालैण्ड की ओर बढ़ने का आदेश मिला। उसी के साथ-साथ सड़क-निर्माण का उत्तरदायित्व सीमा-सड़क-संगठन ने संभाला, जिसकी स्थापना जनवरी, 1960 में, उच्च प्राथमिकता के आधार पर की गई थी। 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड ने कामेंग फ्रंटियर डिविजन के लिए प्रस्थान किया। उसने बोमडिला में अपना मुख्यालय खोला तथा तोवांग, डिरांग तथा सेंगा घाटी में एक-एक बटालियन नियुक्त कर दी। 1962 के आरम्भ तक के लिए एक-टन ट्रक मार्ग बन चुका था, हालांकि इसमें अभी सुधार की गुंजाइश थी। संचालन और नियंत्रण का कार्य मुख्यत. बेतार के माध्यम से होता था और उसमें वे सभी दिक्कतें आती थीं, जो लम्बे फासलों में ऐसी स्थिति में उठानी पड़ती है।

जैसाकि श्री कौल ने अपनी पुस्तक 'दि अनटोल्ड स्टोरी' में लिखा है, आर्मी कमांडर सेन से लेकर सभागीय कमान के जनरल आफिसर निरंजन प्रसाद तक, किसी भी वरिष्ठ अधिकारी ने उन सीमावर्ती इलाकों का कभी भी दौरा नहीं किया, जिनकी रक्षा का भार उन्हें सौंपा गया था। 4 इन्फेंट्री डिविजन के कमांडर ने तोवांग को डिविजन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में चुनकर 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड का मुख्यालय वहीं स्थापित कर दिया। भारत-तिब्बत सीमा पर तैनात 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड के अंतर्गत ढोला चौकी की स्थापना जून, 1962 में आसाम राइफल्स ने की थी। इसीसे उत्तेजित होकर चीनियों ने अगस्त, 1962 में थागला चोटी पर कब्जा किया था। यह चोटी न्यामका चू नदी और ढोला से ऊपर थी। इसके बाद से घटनाओं ने तेज गति पकड़ ली। जब यह खबर मिली कि ढोला चौकी को घेर

लिया गया है तो दिल्ली में उच्चस्तरीय बैठक हुई तथा स्थल सेना को निर्देश दिए गए कि चीनियों को थागला चोटी से भगाया जाए। इस समय तक ब्रिगेड चीनियों के मुकाबले काफी असहाय हो चुकी थी, क्योंकि चीनी सेना अब भारतीय सेना से काफी बेहतर स्थिति में थी।

लेफ्टि० जन० उमराविसंह (कोर कमांडर) तथा लेफ्टि० जन० एल० पी० सेन (आर्मी कमांडर) स्थिति के मूल्यांकन और आवश्यक कार्रवाई के तरीकों पर आपस में बुरी तरह असहमत थे। दोनों में से किसीने भी इलाके का कभी दौरा नहीं किया था। उनके मतभेद भी व्यक्तिगत और पेशेवर, दोनों स्तरों पर थे। इससे स्थिति पर और बुरा असर पड़ा। उमराविसंह भारतीय सेनाओं द्वारा भरपूर तैयारी किए बिना किसी भी सैनिक कार्रवाई के खिलाफ थे, जो उनके अनुसार मार्च, 1963 से पहले नहीं हो सकती थी। राजनीतिज्ञ और आम जनता सेना के उच्चाधिकारियों के बीच के अंदरूनी झगड़ों और व्यावसायिकता की कमी से पूर्णतः अनभिज्ञ थी, इसी कारण सेना की कार्यक्षमता का ह्रास हो रहा था, चीनियों को भारतीय ज़मीन से खदेड़ने के लिए लगातार आदेश और विपरीतादेश जारी हो रहे थे। उससे निचले स्तरों पर भ्रांति फैलती थी। ले० कर्नल मिश्र, जो उस क्षेत्र में पंजाब बटालियन की कमान संभाले थे, उच्च कमांडरों से प्राप्त परस्पर विरोधी आदेशों के मिलने से विकट स्थिति में फंस गए थे।

भारतीय समाचारपत्रों और जनता में चीनियों के साथ शीघ्रता और सख्ती से निपटने को लेकर शोर मच रहा था। जनरल स्टाफ के अध्यक्ष लेफ्टि० जनरल कौल को छुट्टी से वापस बुलाकर थागला चोटी से चीनियों को निकाल बाहर करने का काम सौंपा गया। उन्होंने 5 अक्तूबर, 1962 को नवनिर्मित 4 कोर की कमान संभाली। इस कोर का संगठन चीनी घुसपैठियों को खदेड़ने तथा नेफा की रक्षा के लिए विशेष कार्यदल के रूप में किया गया था। 33 कोर के कमांडर उमराविसंह को नेफा की देखरेख के काम से मुक्ति दिलाकर नागालैंड की तथा पूर्वी पाकिस्तान से लगती सीमाओं की सुरक्षा का चार्ज दिया गया।

लेफ्टि० जन० कौल अपनी पसंद के विश्वस्त अफसरों को साथ लाए, जिनमें ब्रिगेडियर जनरल स्टाफ और ब्रिगेडियर इंचार्ज प्रशासन सहित अनेक अफसर शामिल थे। श्री कौल ने शीघ्र ही अपना काम शुरू कर दिया था। उनका यह दावा सही है कि रणक्षेत्र और सामरिक स्थिति का सही जायज़ा लेने के लिए भारत-तिब्बत सीमा तक पहुंचने वाले वह प्रथम जनरल आफीसर थे। एल० पी० सेन, उमराविसंह और निरंजन प्रसाद सहित अन्य जनरल आफीसर मुख्यतः तेजपुर के आसपास चायबागान वालों और अपने अफसरों के साथ गोल्फ खेलने तथा आमोद-प्रमोद करने में ही व्यस्त रहे। असली बात—क्षेत्र का अध्ययन, जिसकी रक्षा की ज़िम्मेदारी उन्हें सौंपी गई थी—की उन्हें कोई परवाह नहीं थी।

ज़ाहिर है, यह काम उनके लिए काफी मुश्किल होता। पर सैनिक-जीवन केवल जवानों और छोटे अफसरों के लिए ही नहीं, हर वर्ग के कर्मचारी के लिए एक दुरूह जीवन है।

5 अक्तूबर, 1962 से श्री कौल ने 4 कोर की कमान संभाली। तब से 18 अक्तूबर, 1962 तक, जब वे बीमार हुए, उन्होंने स्वयं और अपने मातहतों को बराबर काम में लगाने का प्रयत्न किया। उनके पहुंचने से पहले तक ब्रिगेडियर दलवी के मातहत कार्यरत 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड अपने परिचालन कार्य के लिए हिलाई नहीं जा सकी थी यद्यपि आर्मी कमांडर सेन टिप्पणी कर चुके थे कि चीनियों को खदेड़ने के लिए सैनिक कारवाई करने वाला दल पहले ही आगे बढ़ चुका है। कौल और अन्य लेखकों ने भी अपनी पुस्तकों में इस बात का उल्लेख किया है। परिचालन कमांडर के रूप में अपने सीमित अनुभव (यह बात कमोबेश अधिकांश अफसरों पर लागू थी) के बावजूद श्री कौल एक बेहतर और गतिशील नेता थे। इसी कारण ज्यादा लोग उनसे खुश नहीं थे। अपनी चुस्ती और फुर्ती से वह 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड को भारत-तिब्बत सीमा पर भेजने में कामयाब हो गए। पर वह शीघ्र ही समझ गए कि थागला चोटी पर प्रभुत्व जमाए बैठे चीनियों को खदेड़ना मामूली बात नहीं है। न्यामका चू में 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड के विघटित होने से पूर्व की घटनाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करना यहां उपयोगी होगा। इस स्थान पर लड़ाकू वर्गों से संबंधित लगभग 3,000 सैनिकों को उनके कमांडरों ने चीनियों से लड़ने का एक भी मौका नहीं दिया।

आरंभ में आर्मी कमांडर सेन के आदेशानुसार 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड का कार्य सरकार के निर्देशों के मुताबिक न्यामका चू जाकर भारत क्षेत्र से चीनियों को निकाल बाहर करना था। आर्मी कमांडर सेन से लेकर उनके नीचे के सभी उच्चाधिकारी एक बड़े खराब क्षेत्र में स्थित सैनिक टुकड़ियों को, कभी उनके नजदीक गए बिना ही, आदेश जारी कर रहे थे। किसी भी कमांडर ने यह महसूस नहीं किया कि ये सैनिक ढोला में सामरिक दृष्टि से काफी असुरक्षित स्थल पर तैनात थे। श्री कौल के पहुंचने तक यह युद्ध मुख्यत: नक्शों तक ही सीमित था। रणक्षेत्र की कठिनाइयों को बिलकुल नहीं समझा गया था जिसके लिए भूमि का सर्वेक्षण ही सर्वश्रेष्ठ उपाय था। उच्च कमान का कोई भी व्यक्ति आत्मविश्वास और अधिकार के साथ चीनियों को खदेड़ने के लिए जारी प्रयासों की मूर्खता पर चर्चा करने की स्थिति में नहीं था क्योंकि किसी भी जनरल आफीसर ने स्वयं इलाके का दौरा नहीं किया था। वे सब राजनैतिक आदेशों को ही स्वीकार किए जा रहे थे। श्री कौल द्वारा किए गए भूमि-सर्वेक्षण के बाद ही उच्च कमांडर चीनियों को भगाने के प्रयास की निष्क्रियता समझ पाए। सीमावर्ती इलाके का दौरा करने के बाद ही श्री कौल अधिकारपूर्वक बात कर सके थे। तभी वे चीनियों को खदेड़ने

संबंधी आदेश को सरकार से बदलवा पाए थे। वैसे यह कार्य श्री सेन द्वारा ही काफी पहले कर लिया जाना चाहिए था। यह श्री सेन ही बता सकते हैं कि उन्होंने चीनियों को खदेड़ने संबंधी महत्वपूर्ण आदेशों को जारी करने से पहले इलाके का दौरा क्यों नहीं किया था। पर लगता है, राजनैतिक कारणों की वजह से सेना की उच्च कमान ने—जिसमें सेनाध्यक्ष थापर, सेना कमांडर सेन और कोर कमांडर कौल शामिल थे—सैनिक टुकड़ियों को पीछे लौटाने पर जोर नहीं डाला जो सामरिक दृष्टि से ज्यादा सुरक्षित होता। यह भी आज तक रहस्य बना हुआ है कि 13 अक्तूबर, 1962 को जवाहरलाल नेहरू ने श्रीलंका जाते समय मद्रास में स्थल सेना को चीनियों को बाहर फेंक देने का आदेश क्यों दिया था जबकि इसके विपरीत एक निर्णय पहले ही लिया जा चुका था।

18 अक्तूबर को श्री कौल के दिल्ली लौटने से पूर्व, तथा चीनियों को खदेड़ने संबंधी आदेश वापस लिए जाने पर भारतीय सेनाओं का रुख जो अभी तक आक्रामक था, बदलकर प्रतिरक्षात्मक हो गया, विशेषकर उस समय, जब श्री दलवी ने 12 अक्तूबर से चीनियों की बढ़त तथा 17 अक्तूबर, 1962 के बाद उनके हमले की आशंका व्यक्त की थी। दलवी और उनके वरिष्ठ अधिकारियों को अपना प्रतिरक्षात्मक ढांचा फिर से व्यवस्थित करना चाहिए था। श्री दलवी ने अपनी श्रेष्ठ कृति 'द हिमालयन ब्लंडर' में इसे अच्छी तरह से स्पष्ट किया है।

जनरल चौधरी ने ब्रिगेडियर दलवी से उनकी चीनियों की कैद से रिहाई के बाद रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा था कि "तश्तरी में रखकर एक ब्रिगेड को चीनियों को सौंपे जाने से भविष्य में कैसे बचा जाए।" दलवी ने बाद में एक सुंदर प्रबंध प्रस्तुत किया था, जिसमें खासतौर से असंगत सैनिक-राजनैतिक निर्देशों तथा उच्चाधिकारियों की लापरवाही का उल्लेख था। उन्होंने अपनी 500-पेजी पुस्तक में केवल 10 पन्नों में सामरिक युद्ध का मामूली ही वर्णन किया है। वह असली युद्ध पर अधिक विस्तृत ढंग से प्रकाश डाल सकते थे। और यदि कोई लड़ाई नहीं लड़ी गई तो किसी दूसरे को नहीं, क्षेत्र में तैनात उच्च कमांडर (जोकि वह स्वयं थे) को ही इसका उत्तरदायित्व स्वीकार करना था। संभागीय मुख्यालय के रिकार्ड एकत्र करना भी अब कठिन है, जो यह संकेत देते थे कि ब्रिगेड मुख्यालय ने 20 अक्तूबर, 1962 को सुबह 6 बजे वायरलेस सेट बंद कर अपना कार्य रोक दिया था। ब्रिगे० दलवी के बयान के अनुसार, ब्रिगेड मुख्यालय अपनी पूर्व स्थिति में था तथा प्रातः 8-30 बजे तक कार्य कर रहा था। यहां तक कि ब्रिगेड मुख्यालय के उखड़ने का महत्वपूर्ण समय भी ठीक से रिकार्ड नहीं किया गया।

त्सांगधार चू की लड़ाई का कोई भी सही चित्रण उपलब्ध नहीं है क्योंकि 20 अक्तूबर, 1962 को जब चीनियों ने आक्रमण के प्रथम चरण की शुरुआत की थी, वास्तव में कोई संगठित युद्ध नहीं लड़ा गया था। यह विचित्र है कि ब्रिगेडियर

दलवी चीनियों के हाथों पकड़ लिए गए जबकि उनके ब्रिगेड मेजर, डी० ए० ए० तथा क्यू० एम० जी० भारत वापस आने मे सफल हो गए। जब मेजर जनरल निरंजन प्रसाद से मैंने पूछा कि क्या उन्हे न्यामका चू की लड़ाई मे किसी भितरघात का संदेह है, तो बिना कोई स्पष्ट उत्तर दिए उन्होंने कहा था कि उन्हे स्वयं इस बात पर आश्चर्य हुआ था कि ब्रिगेडियर दलवी कैसे और क्यों पकड़े गए जबकि वह रणबिंदु से काफी दूर होने के कारण आसानी से बच निकल जा सकते थे। एक अन्य बटालियन कमांडर लेफ्टि० कर्नल (बाद मे ब्रिगेडियर) आर० एन० मिश्र से जब इस विषय मे पूछा गया तो उन्होंने भितरघात की संभावना से इंकार नही किया क्योंकि उनके अनुसार ब्रिगेड मुख्यालय सामरिक दृष्टि से काफी खतरनाक ढंग से स्थापित किया हुआ था। कर्नल मिश्र ने ब्रिगे० दलवी से अनुरोध किया था कि वह अपने मुख्यालय को सुरक्षित बटालियन क्षेत्र मे स्थानांतरित कर लें, किंतु सुरक्षित स्थान की जरूरत और स्पष्ट लाभों के बावजूद उन्होंने ऐसा नही किया। इस तथ्य को आसानी से नही समझाया जा सकता। कर्नल मिश्र 20 अक्तूबर को तड़के ब्रिगेड मुख्यालय से संपर्क नही कर सके थे क्योंकि वह चीनियों के किसी बड़े स्तर के हमले से पहले से उखड़ चुका था।

दुर्भाग्यवश ब्रिगे० दलवी ने 20 अक्तूबर, 1962 की विफलता के इस बिंदु और बहुत-से दूसरे पहलुओं पर ज्यादा रोशनी नही डाली है। इसका कोई युक्तिसंगत स्पष्टीकरण उन्होंने नही दिया है कि 3,000 सैनिकों को सुरक्षित स्थान पर लाने के बजाय, बगुलों की तरह बिठाए रखकर उन्हे चीनियों की गोली का शिकार बनने पर क्यों मजबूर किया गया, खास कर उस समय जबकि चीनियों को थागला चोटी से खदेड़ने के लिए किए जाने वाले हमले के आदेश वापस लिए जा चुके थे। उन्हे अब कोर कमांडर से प्राप्त संशोधित आदेशों के अनुसार पोजीशन लेनी थी, यद्यपि सबसे अच्छा तो यही होता कि किसी अन्य उपयुक्त स्थान की ओर प्रस्थान किया जाता। कर्नल मिश्र के अनुसार सैन्य दल को ज्यादा ऊंची और सामरिक दृष्टि से अधिक सुरक्षित जगह पर, या बल्कि उसी क्षेत्र मे किसी वैकल्पिक स्थान पर ले जाया जा सकता था। ब्रिगेडियर दलवी एक मजबूत कमांडर थे और उन्हें उस स्थिति में अपने सैनिकों की बलि न देकर, उनकी सुरक्षा का बंदोबस्त करना चाहिए था। पोजीशन में रद्दोबदल करना हमेशा मौके पर तैनात कमांडर के अधिकार-क्षेत्र मे होता है। अपने बीस वर्ष के सैनिक जीवन मे श्री दलवी इन्फेंट्री कम्पनी से बटालियन तक का नेतृत्व कर सीढ़ी दर सीढ़ी उठे थे, तथा उच्चतर मुख्यालयों से कोई आदेश न मिलने पर, विशेष परिस्थिति मे, उन्हें स्वयं निर्णय कर लेना चाहिए था।

यह किसी भी कमांडर के लिए एक सामान्य बात है कि वह अपने सैन्य के सामने आनेवाली सभी सम्भावनाओं के बारे मे आदेश जारी करे। 12 से 19

अक्तूबर 1962 के बीच इस तरह की संभावनाएं ब्रिगेडियर दलवी को भी स्पष्ट नज़र आ रही थीं। लेकिन यह अभी भी एक रहस्य है कि ब्रिगेड कमांडर और उसके स्टाफ ने मार्गों के निवर्तन वैकल्पिक पोज़ीशनों, तथा पिछले इलाकों में मोर्चा-बंदी के लिए कोई आदेश जारी क्यों नहीं किए ? जैसाकि स्वयं ब्रिगे० दलवी ने अपनी पुस्तक में लिखा है, न्यामका चू में 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड पर हमला न तो अचानक था, न ही अप्रत्याशित। हालांकि उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि समय रहते अपनी बड़ी सेना को पीछे हटाकर उन्होंने एक सामान्य परम्परा का पालन क्यों नहीं किया। यह घटना अब भी अव्याख्येय है जब चीनियों को खदेड़ने के लिए कार्रवाई न करने का निर्णय किया जा चुका था, उच्च स्तर पर, कुछ समय के लिए, प्रतिरक्षात्मक तरीके अपनाने के आदेश जारी हो चुके थे, तथा स्थानीय कमांडरों को उसकी सूचना दे दी गई थी। ब्रिगे० दलवी (और उसके कमान अधिकारी, यदि प्रतिरक्षात्मक होने के आदेश उन्हें मिल चुके थे) भावी पीढ़ी को उन परिस्थितियों के विषय में बता सकते थे, जिनके कारण उन्हें तैयारी रहित तथा सामरिक दृष्टि से असुरक्षित बचाव पोज़ीशनों में रहना पड़ा था। इस वजह से जान-माल का भारी नुकसान हुआ जो टाला जा सकता था।

वाकये के संबंध में कई दिलचस्प तथा परस्पर विरोधी बातें दर्ज हैं। श्री कौल के अनुसार 20 अक्तूबर, 1962 को 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड का वायरलेस सेट बंद हो चुका था। 2 पंजाब गश्ती दल ने ब्रिगेड मुख्यालय का दौरा करने के बाद सुबह 9 बजे सूचना दी कि क्षेत्र पर पहले ही चीनियों का कब्ज़ा हो चुका है। श्री कौल ने अपनी पुस्तक 'द अन्टोल्ड स्टोरी' में पूरी अक्तूबर लड़ाई को केवल दो पन्नों में समेट दिया है।

लगता है, श्री दलवी को चीनियों के सन्निकट हमले की पूरी जानकारी थी। उन्होंने लिखा है, "18 अक्तूबर को चीनी अंतिम तैयारी में लगे थे कि रात को चढ़ाई करके भोर होते ही हमला कर देंगे। उनके मार्गदर्शक और चिह्नित दल घात लगाते बढ़ते देखे जा सकते थे। मैंने 4 डिविज़न के पास तीव्र संदेश भेजे, लेकिन कोई जवाब नहीं मिला। शायद हर व्यक्ति गूंगा, बहरा था और आंखें मूंदे पड़ा था।" मैं यह पाठक के निर्णय पर छोड़ता हूं कि ऐसी स्थिति में फंसे किसी भी व्यक्ति को क्या करना चाहिए था, खास कर उस वक्त जबकि बाहर से किसी तरह के आदेश या सहायता नहीं मिल रही थी।

हो सकता है, जैसाकि उनकी पुस्तक से प्रतीत होता है, ब्रिगेडियर दलवी पर कोर कमांडर (जो दिल्ली में बीमार पड़े थे) और संभागीय कमांडर तथा उसके स्टाफ का भारी दबाव रहा हो। उन्होंने संभवतः पूरी तरह निराश होकर ही कहा था, "भाड़ में जाने दो—यदि उच्चाधिकारियों को ही जवानों में कोई दिलचस्पी नहीं है, तो मुझे भी नहीं है।" और उन्होंने अपनी फौज का सर्वनाश हो जाने दिया।

या इस पराजय के पीछे कोई और बात थी? अभी भी अनेक ऐसे कमांडर बाकी हैं जो न्यामका चू में युद्ध के दौरान जिम्मेदार पदों पर आसीन थे। भावी पीढ़ी के हित में वे अफसर इस घटना पर ज्यादा रोशनी डाल सकते हैं।

चीनी पूरी तरह तैयार होकर आए थे तथा न्यामका चू में भारतीय फौज के मुकाबले वे हर तरह से लाभकारी स्थिति में थे। वे संख्या की दृष्टि से भी प्रबल थे (भारत की 3,000 की संख्या के मुकाबले 10,000 थे)। उनका तोपखाना हमसे बेहतर था तथा गोला-बारूद का उनके पास पर्याप्त भंडार था। उनकी संचार-पंक्ति भी काफी छोटी अर्थात् सड़क सीमा से 15 से 30 किलोमीटर थी जबकि हमारी संचार-पंक्ति सड़क सीमा से लोथांग तक 40 किलोमीटर लंबी थी। वे सामरिक दृष्टि से अपेक्षातर बेहतर क्षेत्र पर तैनात थे तथा भारतीय पोजीशनों पर हावी थे। भारतीय सेनाओं के पास केवल एक ही रास्ता था, सामरिक दृष्टि से बेहतर स्थान की ओर पीछे हटना। पर इस एकमात्र विकल्प की किन्हीं अज्ञात कारणों से हमारी सेना के उच्च अफसरों ने दृढ़ता से अनुशंसा नहीं की। इसका परिणाम वही हुआ, जिसकी ऐसी स्थिति में उम्मीद की जा सकती थी।

हालांकि पासा पलट चुका था और चीनियों की चुनौती स्वीकार कर ली गई थी, पर जैसे ही चीनी सेला की ओर तथा उससे आगे बढ़े, न्यामका चू में प्राप्त सारे लाभ उनके हाथ से छिनने लगे। भारतीय सेना ने चीनियों पर सांघातिक प्रहार के लिए कमर कस ली। जो लाभ पहले चीनी सेना को थे, अब वही उनके मुकाबले भारतीय सेना को प्राप्त थे।

अक्तूबर 1962 के बीच इस तरह की संभावनाएं ब्रिगेडियर दलवी को भी स्पष्ट नज़र आ रही थीं। लेकिन यह अभी भी एक रहस्य है कि ब्रिगेड कमांडर और उसके स्टाफ ने मार्गों के निवर्तन वैकल्पिक पोज़ीशनों, तथा पिछले इलाकों में मोर्चा-बंदी के लिए कोई आदेश जारी क्यों नहीं किए ? जैसाकि स्वयं ब्रिगे० दलवी ने अपनी पुस्तक में लिखा है, न्यामका चू में 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड पर हमला न तो अचानक था, न ही अप्रत्याशित। हालांकि उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि समय रहते अपनी बड़ी सेना को पीछे हटाकर उन्होंने एक सामान्य परम्परा का पालन क्यों नहीं किया। यह घटना अब भी अव्याख्येय है जब चीनियों को खदेड़ने के लिए कार्रवाई न करने का निर्णय किया जा चुका था, उच्च स्तर पर, कुछ समय के लिए, प्रतिरक्षात्मक तरीके अपनाने के आदेश जारी हो चुके थे, तथा स्थानीय कमांडरों को उसकी सूचना दे दी गई थी। ब्रिगे० दलवी (और उसके कमान अधिकारी, यदि प्रतिरक्षात्मक होने के आदेश उन्हें मिल चुके थे) भावी पीढ़ी को उन परिस्थितियों के विषय में बता सकते थे, जिनके कारण उन्हें तैयारी रहित तथा सामरिक दृष्टि से असुरक्षित बचाव पोज़ीशनों में रहना पड़ा था। इस वजह से जान-माल का भारी नुकसान हुआ जो टाला जा सकता था।

वाकये के संबंध में कई दिलचस्प तथा परस्पर विरोधी बातें दर्ज हैं। श्री कौल के अनुसार 20 अक्तूबर, 1962 को 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड का वायरलेस सेट बंद हो चुका था। 2 पंजाब गश्ती दल ने ब्रिगेड मुख्यालय का दौरा करने के बाद सुबह 9 बजे सूचना दी कि क्षेत्र पर पहले ही चीनियों का कब्जा हो चुका है। श्री कौल ने अपनी पुस्तक 'द अन्टोल्ड स्टोरी' में पूरी अक्तूबर लड़ाई को केवल दो पन्नों में समेट दिया है।

लगता है, श्री दलवी को चीनियों के सन्निकट हमले की पूरी जानकारी थी। उन्होंने लिखा है, "18 अक्तूबर को चीनी अंतिम तैयारी में लगे थे कि रात को चढ़ाई करके भोर होते ही हमला कर देंगे। उनके मार्गदर्शक और चिह्नित दल घात लगाते बढ़ते देखे जा सकते थे। मैंने 4 डिविज़न के पास तीव्र संदेश भेजे, लेकिन कोई जवाब नहीं मिला। शायद हर व्यक्ति गूंगा, बहरा था और आंखें मूंदे पड़ा था।" मैं यह पाठक के निर्णय पर छोड़ता हूं कि ऐसी स्थिति में फंसे किसी भी व्यक्ति को क्या करना चाहिए था, खास कर उस वक्त जबकि बाहर से किसी तरह के आदेश या सहायता नहीं मिल रही थी।

हो सकता है, जैसाकि उनकी पुस्तक से प्रतीत होता है, ब्रिगेडियर दलवी पर कोर कमांडर (जो दिल्ली में बीमार पड़े थे) और संभागीय कमांडर तथा उसके स्टाफ का भारी दबाव रहा हो। उन्होंने संभवतः पूरी तरह निराश होकर ही कहा था, "भाड़ में जाने दो—यदि उच्चाधिकारियों को ही जवानों में कोई दिलचस्पी नहीं है, तो मुझे भी नहीं है।" और उन्होंने अपनी फौज का सर्वनाश हो जाने दिया।

या इस पराजय के पीछे कोई और बात थी ? अभी भी अनेक ऐसे कमांडर बाकी है जो न्यामका चू मे युद्ध के दौरान जिम्मेदार पदो पर आसीन थे। भावी पीढी के हित मे वे अफसर इस घटना पर ज्यादा रोशनी डाल सकते हैं।

चीनी पूरी तरह तैयार होकर आए थे तथा न्यामका चू में भारतीय फौज के मुकाबले वे हर तरह से लाभकारी स्थिति में थे। वे सख्या की दृष्टि मे भी प्रबल थे (भारत की 3,000 की सख्या के मुकाबले 10,000 थे)। उनका तोपखाना हमसे बेहतर था तथा गोला-बारूद का उनके पास पर्याप्त भडार था। उनकी संचार-पक्ति भी काफी छोटी अर्थात् सड़क सीमा से 15 से 30 किलोमीटर थी जबकि हमारी संचार-पक्ति सड़क सीमा से तोवांग तक 40 किलोमीटर लबी थी। वे सामरिक दृष्टि से अपेक्षातर बेहतर क्षेत्र पर तैनात थे तथा भारतीय पोजीशनों पर हावी थे। भारतीय सेनाओं के पास केवल एक ही रास्ता था, सामरिक दृष्टि से बेहतर स्थान की ओर पीछे हटना। पर इस एकमात्र विकल्प की किन्ही अज्ञात कारणो से हमारी सेना के उच्च अफसरो ने दृढता से अनुशसा नही की। इसका परिणाम वही हुआ, जिसकी ऐसी स्थिति में उम्मीद की जा सकती थी।

हालाकि पासा पलट चुका था और चीनियो की चुनौती स्वीकार कर ली गई थी, पर जैसे ही चीनी सेला की ओर तथा उससे आगे बढे, न्यामका चू मे प्राप्त सारे लाभ उनके हाथ से छिनने लगे। भारतीय सेना ने चीनियो पर सांघातिक प्रहार के लिए कमर कस ली। जो लाभ पहले चीनी सेना को थे, अब वही उनके

अक्तूबर 1962 के बीच इस तरह की संभावनाएं ब्रिगेडियर दलवी को भी स्पष्ट नज़र आ रही थीं। लेकिन यह अभी भी एक रहस्य है कि ब्रिगेड कमांडर और उसके स्टाफ ने मार्गों के निवर्तन वैकल्पिक पोजीशनों, तथा पिछले इलाकों में मोर्चा-बंदी के लिए कोई आदेश जारी क्यों नहीं किए ? जैसाकि स्वयं ब्रिगे० दलवी ने अपनी पुस्तक में लिखा है, न्यामका चू में 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड पर हमला न तो अचानक था, न ही अप्रत्याशित। हालांकि उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि समय रहते अपनी बड़ी सेना को पीछे हटाकर उन्होंने एक सामान्य परम्परा का पालन क्यों नहीं किया। यह घटना अब भी अव्याख्येय है जब चीनियों को खदेड़ने के लिए कार्रवाई न करने का निर्णय किया जा चुका था, उच्च स्तर पर, कुछ समय के लिए, प्रतिरक्षात्मक तरीके अपनाने के आदेश जारी हो चुके थे, तथा स्थानीय कमांडरों को उसकी सूचना दे दी गई थी। ब्रिगे० दलवी (और उसके कमान अधिकारी, यदि प्रतिरक्षात्मक होने के आदेश उन्हें मिल चुके थे) भावी पीढ़ी को उन परिस्थितियों के विषय में बता सकते थे, जिनके कारण उन्हें तैयारी रहित तथा सामरिक दृष्टि से असुरक्षित बचाव पोज़ीशनों में रहना पड़ा था। इस वजह से जान-माल का भारी नुकसान हुआ जो टाला जा सकता था।

वाकये के संबंध में कई दिलचस्प तथा परस्पर विरोधी बातें दर्ज हैं। श्री कौल के अनुसार 20 अक्तूबर, 1962 को 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड का वायरलेस सेट बंद हो चुका था। 2 पंजाब गश्ती दल ने ब्रिगेड मुख्यालय का दौरा करने के बाद सुबह 9 बजे सूचना दी कि क्षेत्र पर पहले ही चीनियों का कब्ज़ा हो चुका है। श्री कौल ने अपनी पुस्तक 'द अन्टोल्ड स्टोरी' में पूरी अक्तूबर लड़ाई को केवल दो पन्नों में समेट दिया है।

लगता है, श्री दलवी को चीनियों के सन्निकट हमले की पूरी जानकारी थी। उन्होंने लिखा है, "18 अक्तूबर को चीनी अंतिम तैयारी में लगे थे कि रात को चढ़ाई करके भोर होते ही हमला कर देंगे। उनके मार्गदर्शक और चिह्नित दल घात लगाते बढ़ते देखे जा सकते थे। मैंने 4 डिविज़न के पास तीव्र संदेश भेजे, लेकिन कोई जवाब नहीं मिला। शायद हर व्यक्ति गूंगा, बहरा था और आंखें मूंदे पड़ा था।" मैं यह पाठक के निर्णय पर छोड़ता हूं कि ऐसी स्थिति में फंसे किसी भी व्यक्ति को क्या करना चाहिए था, खास कर उस वक्त जबकि बाहर से किसी तरह के आदेश या सहायता नहीं मिल रही थी।

हो सकता है, जैसाकि उनकी पुस्तक से प्रतीत होता है, ब्रिगेडियर दलवी पर कोर कमांडर (जो दिल्ली में बीमार पड़े थे) और संभागीय कमांडर तथा उसके स्टाफ का भारी दबाव रहा हो। उन्होंने संभवतः पूरी तरह निराश होकर ही कहा था, "भाड़ में जाने दो—यदि उच्चाधिकारियों को ही जवानों में कोई दिलचस्पी नहीं है, तो मुझे भी नहीं है।" और उन्होंने अपनी फौज का सर्वनाश हो जाने दिया।

या इस पराजय के पीछे कोई और बात थी ? अभी भी अनेक ऐसे कमांडर बाकी हैं जो न्यामका चू मे युद्ध के दौरान जिम्मेदार पदों पर आसीन थे। भावी पीढ़ी के हित मे वे अफसर इस घटना पर ज्यादा रोशनी डाल सकते हैं।

चीनी पूरी तरह तैयार होकर आए थे तथा न्यामका चू मे भारतीय फौज के मुकाबले वे हर तरह से लाभकारी स्थिति में थे। वे संख्या की दृष्टि से भी प्रबल थे (भारत की 3,000 की संख्या के मुकाबले 10,000 थे)। उनका तोपखाना हमसे बेहतर था तथा गोला-बारूद का उनके पास पर्याप्त भंडार था। उनकी संचार-पंक्ति भी काफी छोटी अर्थात् सड़क सीमा से 15 से 30 किलोमीटर थी जबकि हमारी संचार-पंक्ति सड़क सीमा से तोवांग तक 40 किलोमीटर लंबी थी। वे सामरिक दृष्टि से अपेक्षातर बेहतर क्षेत्र पर तैनात थे तथा भारतीय पोजीशनों पर हावी थे। भारतीय सेनाओं के पास केवल एक ही रास्ता था, सामरिक दृष्टि से बेहतर स्थान की ओर पीछे हटना। पर इस एकमात्र विकल्प की किन्हीं अज्ञात कारणों से हमारी सेना के उच्च अफसरों ने दृढ़ता से अनुशंसा नहीं की। इसका परिणाम वही हुआ, जिसकी ऐसी स्थिति में उम्मीद की जा सकती थी।

हालांकि पासा पलट चुका था और चीनियों की चुनौती स्वीकार कर ली गई थी, पर जैसे ही चीनी सेला की ओर तथा उससे आगे बढ़े, न्यामका चू मे प्राप्त सारे लाभ उनके हाथ से छिनने लगे। भारतीय सेना ने चीनियों पर साघातिक प्रहार के लिए कमर कस ली। जो लाभ पहले चीनी सेना को थे, अब वही उनके मुकाबले भारतीय सेना को प्राप्त थे।

अध्याय 4

चुनौती से निपटने की तैयारी

मैं उस समय अपनी सालाना छुट्टी पर दिल्ली में था, जब चीन के साथ चल रहे सीमा-विवाद ने संघर्ष का रूप धारण कर लिया। मुझे पता चला कि 65 इन्फेंट्री ब्रिगेड जिसका मैं डी० ए० ए० और क्यू० एम० जी० था, सिलीगुड़ी के लिए सैन्य अभियान पर प्रस्थान कर चुकी है। मैंने अपनी छुट्टियों को बीच में ही काटकर ब्रिगेड से जा मिलने का फैसला किया और सिकंदराबाद से आवश्यक कपड़े और सामान इकट्ठा कर बैरकपुर के रास्ते हवाई जहाज से मिसामारी जाने की व्यवस्था करने में सफल हो गया। सिलीगुड़ी पर थोड़ी देर रुकने के बाद ब्रिगेड का गन्तव्य मिसामारी कर दिया गया था। नेफा में चीनियों से मुकाबला करने के लिए तेज़पुर और तिनसुखिया में पहले से ही अनेक टुकड़ियां एकत्र हो रही थीं। अक्तूबर के अंत तक 62 इन्फेंट्री ब्रिगेड सेला तक पहुंच चुकी थी। 48 इन्फेंट्री ब्रिगेड अपने गन्तव्य पर नवंबर के प्रथम सप्ताह तक पहुंची थी। 65 इन्फेंट्री ब्रिगेड ने बोमडिला तक का अपना अभियान अक्तूबर, 1962 के अंत तक पूरा कर लिया था। 82 इन्फेंट्री ब्रिगेड लोहित डिविज़न (नेफा) के 2 इन्फेंट्री डिविज़न क्षेत्र में भेजी गई।

तेज़पुर पहुंचने पर मुझे पता चला कि ब्रिगेड मुख्यालय और कमान के अंतर्गत कई बटालियन बोमडिला तक पहुंच चुके हैं। परिवहन की कमी के कारण मुख्यालयों और इकाइयों द्वारा अधिकांश भंडारों को पीछे छोड़ दिया गया था। भंडारों को ले जाने के लिए वाहनों की ज़रूरत थी। मैंने 65 ब्रिगेड के कमांडर ब्रिगेडियर सईद से पिछले मुख्यालयों के स्थान से दूरभाष पर बातचीत की। उन्होंने भंडारों और अन्य उपकरणों को बोमडिला और उसके आगे स्थित मुख्यालयों और इकाइयों तक ले जाने की व्यवस्था करने के लिए निर्देश दिए। मैंने ब्रिगेडियर जनरल स्टाफ (बी० जी० एस०) IV कोर से भी बातचीत की, क्योंकि मुझे बताया गया था कि वाहन उन्हींके नियंत्रण में है। उन्होंने मुझे ब्रिगेडियर प्रशासन (ब्रिगे० एडमि०) से संपर्क करने को कहा। संपर्क करते ही उन्होंने मुझे तुरंत 30 एक-टन

वाहन तथा 15 जीपें दिलवा दीं हालांकि हमारी जरूरत उससे दुगुनी थी। बड़े वाहन (3 टन वाले) उस समय सड़क पर नहीं चल सकते थे। कुछ बर्फ-बचाव वस्त्रों, आवश्यक परिचालन भंडार और उपकरणों के साथ 31 अक्तूबर, 1962 को हमने एक ब्रिगेड रक्षक दल के साथ प्रस्थान किया।

सड़क तब अच्छी स्थिति में नहीं थी। उसपर मरम्मत-कार्य चल रहा था। वर्षा के कारण स्थान-स्थान पर कीचड़ जमा थी। 1-टन वाहनों के लिए इकतरफे यातायात को कड़ाई से लागू किया हुआ था। केवल जीपें ही दोनों ओर से आ-जा सकती थीं। सड़क के कुछ हिस्से काफी ठीक थे, जहां हम तीव्र गति पकड़ सकते थे, परंतु कभी-कभी विपरीत दिशा से आने वाले किसी वाहन अथवा सीमा-सड़क-संगठन के काम की वजह से रक्षक दल को रुकना पड़ जाता था। इस प्रकार हमारी गति इतनी मंद थी कि बोमडिला तक की 100 किलोमीटर की दूरी को पार करने में ही अधिकांश दिन बीत गया। प्रवेश-नियत्रकों के माध्यम से मार्ग के यातायात को नियंत्रित किया हुआ था जिससे रक्षक दल परस्पर आसानी से पार हो सकते थे। इससे यातायात अवरुद्ध नहीं होता था और आवागमन तेज गति से होता था। हमें मालूम हुआ कि कुछ ही दिन पहले एक टैंक जो पहाड़ पर चक्कर लगा रहा था, तेजी से मुड़ने के प्रयास में उच्चतम बिंदु 'ईगल्स नेस्ट' (9,000 फुट) से लुढ़ककर गहरे खड्डे में जा गिरा था। इसका अभी कहीं पता नहीं चल पाया था और इस तरह यह पूर्णतः नष्ट हो गया था। 'ईगल्स नेस्ट' पर हम कुछ देर के लिए रुके थे। गहन जंगलों से ढकी मीलों तक फैली गहरी घाटी में नीचे झांकना बड़ा रोमांचपूर्ण था।

बोमडिला पहुंचकर, विश्राम-गृह में मैंने पदमुक्त होने वाले ब्रिगे० सईद और नया पदभार संभालने वाले ब्रिगे० चीमा से भेंट की। ब्रिगेड मेजर बाइर्क की अनुपस्थिति में, जोकि अवकाश पर थे, मैंने 'डिप्टी असिस्टेंट एडजुटेंट' और 'क्वार्टर मास्टर जनरल' (डी० क्यू०) के रूप में अपने सभार तंत्र के कार्य के साथ-साथ सैन्य परिचालन पक्ष का कार्यभार भी संभाला।

ब्रिगे० चीमा, जोकि एन० सी० सी० पटना से पदोन्नत होकर 65 ब्रिगेड के मुख्यालय पर नियुक्त हुए थे, से आवश्यक बातचीत कर चुकने के बाद, ब्रिगेडियर सईद ने मुझे अपने कमरे में ले जाकर उस ब्रिगेड को छोड़ने की अपनी पृष्ठभूमि बताई, जिसका उन्होंने एक वर्ष से भी कम समय तक नेतृत्व किया था। मेजर जनरल निरंजन प्रसाद, जिन्हें 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड की हार के बाद हटा दिया गया था, के स्थान पर जी० ओ० सी० के रूप में नया पदभार संभालने के लिए मेजर जनरल ए० एस० पठानिया, एम० वी० सी० एम० सी० को लाया गया। डिविज़न का पदभार संभालते ही उन्हें अपने ब्रिगेड कमांडर चुनने को कहा गया। उन्होंने ब्रिगे० होशियारसिंह और ब्रिगे० कोरला की मांग की, पर सुना गया कि ब्रिगे० कोरला

पठानिया के नीचे काम करने को राज़ी नहीं थे। अतः उनके स्थान पर ब्रिगे० चीमा, जो जन० पठानिया की पसंद के नहीं थे, को नियुक्त किया गया। ब्रिगे० सईद ने मुझे नये जी० ओ० सी० मेजर जनरल पठानिया और 62 इन्फेंट्री ब्रिगेड के कमांडर और ब्रिगे० लाल के बीच सेला में हुई कहासुनी की भी जानकारी दी। ब्रिगे० लाल के स्थान पर ही ब्रिगे० होशियारसिंह को लाया गया था। कोई भी स्वाभिमानी सैनिक स्वयं को अपमानित महसूस करेगा यदि ठीक लड़ाई के वक्त उसकी बदली कर दी जाए। पठानिया ने सईद को बताया था कि वह उन्हीं (सईद) को रखना पसंद करते, पर चीमा के डिविजन में पदभार संभालने के बाद उनके पास कोई चारा नहीं था। जैसाकि कोई भी पेशेवर सैनिक इस रद्दोबदल पर करता, सईद ने भी हालांकि इसपर स्वयं को अपमानित महसूस किया, क्योंकि वह तब तक अपनी बटालियनों और उनके कमांडरों को जानने लगे थे, पर इसके बावजूद उस परिपक्व और संतुलित कमांडर ने सब सहज भाव से स्वीकार कर लिया। सईद के अनुसार परिवर्तन के समय पठानिया और लाल लगभग हाथापाई पर उतर आए थे, अतः पठानिया ने उसी स्थिति की पुनरावृत्ति को रोकने के खयाल से सईद को परिवर्तन के विषय में अवगत कराना बेहतर समझा। जहां तक मुझे याद है, ब्रिगे० सईद यह मानते थे कि ब्रिगे० चीमा को मुझपर निर्भर रहने की जरूरत पड़ेगी और समय बीतते जब मुझे ब्रिगे० चीमा को कुछ और अच्छी तरह जानने का मौका मिला, मैं ब्रिगे० सईद की बातों का असली मतलब समझ गया। मुझे ब्रिगे० चीमा की पृष्ठभूमि की जानकारी नहीं थी, लेकिन हमने यह सुना था कि वह संयुक्त राष्ट्र की आपत्कालीन सेना के हिस्से के रूप में गाजा गई बटालियन के कमान अफसर रह चुके थे। अपने अच्छे स्वभाव और चतुराई के कारण वह कई जनरल अफसरों के कृपापात्र समझे जाते थे। उनकी जान-पहचान भी ऊंची बताई जाती थी।

48 इन्फेंट्री ब्रिगेड के कमांडर ब्रिगे० गुरुबक्ससिंह भी बोमडिला पहुंच चुके थे। छोटे कद और गठीले शरीर वाला यह सिख नवयुवक दिल्ली के एक अत्यंत धनी परिवार से संबंधित था। वह एक 'गनर' अफसर थे, जिन्हें चुनिंदा तौर पर एक इन्फेंट्री टुकड़ी की कमान सौंपी गई थी। हमारी स्थल सेना में जो दुनिया भर की थल सेनाओं में बेजोड़ है, इन्फेंट्री अफसरों का उच्च कमान के संपूर्ण ढांचे पर इतना प्रभाव रहता है कि सीमित क्षमता और योग्यता वाले घटिया स्तर के इन्फेंट्री कमांडिंग अफसर भी, सेना की दूसरी शाखाओं के अधिक सक्षम अधिकारियों के मुकाबले, वरीयता पाकर इन्फेंट्री ब्रिगेड और डिविज़नों की कमान संभालने के लिए चुन लिए जाते हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान पश्चिमी मोर्चे पर ब्रिगे० चीमा एक कनिष्ठ अधिकारी के रूप में युद्ध-बंदी रह चुके थे। वह हमें अपने उस समय के दुःखभरे

तजुर्बे सुनाते थे कि कैसे उन्होंने कई-कई दिनों तक भूखा रहकर और अनेक दूसरी यातनाओं को सहकर वह समय बिताया था। इटली में एक भागे हुए बंदी के रूप में अपने-आपको छिपाने के लिए उन्हें काफी कठिनाइयों को झेलना पड़ा। अत: उन्होंने तय किया हुआ था कि भविष्य में कभी युद्ध-बंदी नहीं बनेंगे। उनके द्वारा सुनाई जाने वाली कई कहानियाँ काफी असामयिक होतीं, जिनका युवा अफसरों के कम परिपक्व मन पर बुरा असर पड़ सकता था। मैं इस विचार को दूर नहीं कर सका कि ब्रिगे० चीमा मानसिक स्तर पर कोई मजबूत व्यक्ति नहीं हैं। ब्रिगेडियर सईद की बात भी मुझे सही जान पड़ी। अपने सीमित सेवाकाल में मेरा मानसिक और शारीरिक दोनों तरह से काफी मजबूत उच्च कमांडरों से सामना हो चुका था, पर दुर्भाग्य से 1962 में मोर्चे पर मुझे एक भी वैसा कमांडर नहीं मिला।

मैं बड़ी दुविधा में फंसा था कि कौन-सा रास्ता अपनाऊं—अपने कमांडर के प्रति वफादारी अथवा देश के प्रति वफादारी? यह समस्या हमारी आरक्षी सेनाओं में अनेक सैनिकों के सामने आती है, और कुछ ने तो भितरघात या पेशे के प्रति पूर्ण अक्षमता वाले कार्यों को भी देखा है। अपने कैरियर के हित में वे चुप रहे हैं, लेकिन मैंने यह निश्चय कर लिया था यदि ब्रिगे० चीमा ही ब्रिगेड कमांडर रहते हैं तो उनकी मानसिकता के बारे में मैं सभागीय कमांडर को सूचित कर दूंगा। जब मैंने कुछ स्टाफ अफसरों से इस संबंध में बात की तो मुझे बताया गया कि सभागीय मुख्यालय पर भी एक वरिष्ठ स्टाफ अफसर इसी तरह की मानसिकता से ग्रस्त हैं। यह बड़े दुख का विषय है कि हमारी सेना में ऐसा कोई कायदा नहीं है कि महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त ऐसे लोगों का समय रहते पर्दाफाश किया जा सके, इससे पहले कि वे किसी राष्ट्रीय अनर्थ का कारण बनें। सबसे बुरी स्थिति वह हो सकती है जब एक गद्दार या वेतनभोगी एजेंट किसी शिखर के स्थान पर कार्यरत हो, और आजादी के बाद से अनुशासन के नाम पर चल रही अस्वस्थ परंपराओं के कारण उसका पर्दाफाश न हो सका हो। 1971 के युद्ध के दौरान भी कुछ कमांडरों की कार्रवाई ने उनकी पेशे के प्रति सक्षमता और अखंडता के विषय में गंभीर संदेह जगाया था। 1965 की लड़ाई में हमारा एक ऐसे कमांडर से वास्ता पड़ा था, जिसे रात-रात भर नींद नहीं आती थी तथा जो घबराहट में लगभग बीमार पड़ गया था। वह अक्सर कांपने लगता था और ब्रिगेड मेजर को उसके हाथ थामने पड़ते थे। सौभाग्य से उसे कोई लड़ाई नहीं लड़नी पड़ी और बाद में वह लेफ्टिनेंट जनरल बन गया। इस तरह की बातें हमारी थल सेना में आज भी फल-फूल रही हैं। हमें कुछ अत्यंत श्रेष्ठ कमांडर भी मिले हैं जो युद्ध के मैदान में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ फौज से टक्कर ले सकते हैं, पर इनमें से अधिकांश शीघ्र ही हटा दिए जाते हैं।

बोमडिला में कुछ दिन बिताने के बाद ब्रिगेडियर चीमा ने मुझे एक रोज

वताया कि अगली सुवह वह 4 राजपूत रेजीमेंट के निर्दिष्ट स्थान की ओर प्रस्थान करेंगे। उन्होंने मुझे ब्रिगेड मुख्यालय को उसके नये स्थान डिरांग जोंग के नजदीक ले जाने की तैयारी का निर्देश दिया। नया स्थान संभागीय मुख्यालय से लगभग 800 मीटर दूर एक छोटी पहाड़ी की निचली ढलान के साथ था। इसके वगल में एक झरना वहता था। चूंकि एक टन और ज्यादा भार वाले वाहनों के आवागमन पर सख्त पावंदी थी, अतः हम केवल खास जरूरी सामान के साथ कुछ जीपों और जोंगो में सवार होकर नये स्थान की ओर चले तथा निर्देश देते गए कि वाकी वचे लोग शेप सामान के साथ वाहनों की व्यवस्था होते ही चलने को तैयार रहें।

हमारे सभी वाहन चूंकि संभाग (डिविज़न) के नियंत्रण में थे, अतः नये स्थान पर पहुंचते ही मैंने संभागीय मुख्यालय के 'क्यू' स्टाफ से वाहन उपलब्ध कराने का अनुरोध किया। क्यू स्टाफ ने मुझे वहां वाहनों के नियंत्रक लेफ्टि० कर्नल शमशेरसिंह, ए० ए० तथा क्यू० एम० जी० (ए० क्यू०) के पास जाने का निर्देश दिया। ए० क्यू० ने मुझे वरिष्ठ जनरल स्टाफ अफसर (जी० एस० ओ०-1) ले० कर्नल मनोहरसिंह के पास भेज दिया, जिन्होंने वाहन संचालन के नियंत्रण का भार स्वयं ले लिया था। जी० एस० ओ०-1 ने मुझे वताया कि संचालन के नियंत्रण और समन्वय का काम ए० क्यू० करते हैं तथा परिवहन जैसे तुच्छ मामलों से उनका वास्ता नहीं है। मैं फिर ए० क्यू० के पास गया जिन्होंने कहा कि यह कार्य सैन्य परिचालन से संवंधित होने के कारण उनसे कोई वास्ता नहीं रखता। अव स्टाफ के प्रति मेरा धैर्य टूटने लगा, क्योंकि मुझे तरह-तरह की वातें कही गईं, मसलन—"तुम लोग पैदल क्यों नहीं चले जाते ?", "सामान तो जवानों के सिर पर रखकर भी ले जाया जा सकता है", "पहाड़ों में प्रशासनिक गतिविधियों के लिए कोई परिवहन उपलब्ध नहीं है", "इस तरह के कामों के लिए कोई परिवहन नहीं दिया जाता", "तुम लोगों को अपने विचार वदल लेने चाहिए, क्योंकि हम पहाड़ी क्षेत्र में आए हुए हैं, मैदानी में नहीं हैं", आदि। वरिष्ठ अधिकारी मदद करने के वजाय व्यंग्य करते थे।

हालांकि ए० क्यू० और जी० एस० ओ०-1 एक-दूसरे से सटे कमरों में वैठे थे, जिन्हें केवल छप्पर की एक मामूली दीवार ही विभाजित करती थी, तथापि वे आपस में वात करने को तैयार नहीं थे। मैंने गनर अफसर जी० एस० ओ०-1 से प्रार्थना की कि वे परिवहन के आवंटन और चलने के समय को आपस में तय कर लें, पर वह ए० क्यू० से वात करने को राजी नहीं हुए, यद्यपि उनकी आवाज़ को 'दीवार' के पीछे वैठे ए० क्यू० आसानी से सुन सकते थे। वाद में अन्य स्टाफ अफसरों से वातचीत करने पर पता चला कि उन दोनों की आपस में वोलचाल वंद थी। इस प्रकार हम दो ऐसे वरिष्ठ और महत्त्वपूर्ण काम पर नियुक्त अफसरों के साथ युद्ध के मैदान को जा रहे थे जो नियोजन, सैनिक कार्रवाई और प्रशासन के लिए

ज़िम्मेदार तथा जनरल अफसर के दाहिने और बायें हाथ की तरह महत्वपूर्ण थे, पर दोनों एक-दूसरे से दुश्मनी गांठे बैठे थे। ऐसे दो वरिष्ठ अफसरों, जिन्हें कुछ समय पहले न्यामका चू में हुई 7 इन्फैंट्री ब्रिगेड की हार की जानकारी थी, के साथ काम करना अत्यंत निराशाजनक अनुभव था। सौभाग्य से संभागीय मुख्यालय में मुझे एक पुराना मित्र मिल गया जिसकी मदद से हमने व्यक्तिगत संपर्कों के आधार पर भंडार-संचालन का कार्य संगठित किया। संभवतः संभागीय मुख्यालय के इन दो वरिष्ठ स्टाफ अफसरों को सैन्य परिचालन में कोई रुचि नहीं थी।

1 से 15 नवंबर 1962 : विशेष पक्ष और घटनाएं

मुख्य सड़क पर मैदानी इलाके से लेकर अग्रवर्ती क्षेत्र तक, जहां सैनिक टुकड़ियां तैनात की गई थीं, यातायात को नियंत्रित करना जरूरी ही नहीं, उचित भी था। यदि सड़क गतिविधियों के संबंध में जिम्मेदारी बांट दी जाती तो सभीका भला होता, लेकिन इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। जहां जनरल स्टाफ के लोग सड़क को सभी सैन्य परिचालन कार्यों के लिए नियंत्रित करते नजर आते थे, वहां प्रशासनिक स्टाफ निरे प्रशासनिक कार्यों के लिए ही आवागमन की छूट दे रहा था। वरिष्ठ स्टाफ अफसरों (जैसे जी० एस० ओ०-1 और ए० ए० तथा क्यू० एम० जी०) के बीच आपसी तालमेल की कमी के कारण कभी-कभी तो मामले सीमा पार कर जाते। मुझे एक मामला याद है, जब इन दो अफसरों के आपसी झगड़े में एक कनिष्ठ अफसर गिरफ्तार हो गया था। जल्दी ही मैं जान गया कि जी० एस० ओ०-1 तथा ए० क्यू० के बीच आपसी समीकरण काफी निम्न स्तर तक पहुंच गए थे। कभी-कभी तो वे काफी आवेशपूर्ण हो जाते थे। वरिष्ठ संभागीय अधिकारियों की कार्मशक्ति चीनियों के साथ नहीं, आपस में लड़ने में खर्च होती थी। मैंने यही चीज 1971 के दौरान शकरगढ़ में काफी बड़े स्तर पर देखी थी। इस झगड़े में ब्रिगेडियर और मेजर जनरल शामिल थे। परिणामस्वरूप शकरगढ़ पर हमले में असफलता का मुंह देखना पड़ा।

नये ब्रिगेड मुख्यालय में जरूरी काम निपटाकर मैं एक बार फिर शाम को सामरिक स्थिति जानने संभागीय मुख्यालय गया ताकि बटालियनों को उपयोगी जानकारी दी जा सके। संभागीय मुख्यालय में मेरी अनेक ऐसे अधिकारियों से भेंट हुई, जिन्हें मैं काफी नजदीक से जानता था। इन अफसरों में चंदर गुप्ता, जी० एस० ओ०-2 गुप्तचरी; नरिंदर रावत, जी० एस० ओ०-3 आपरेशन्स; लेफ्टि० कर्नल नंदा, कमांडर इंजीनियर; मेजर नरिंदरसिंह, आरमर्ड कोर; जी० एस० ओ०-2 आपरेशन्स शामिल थे। जी० एस० ओ०-2 आपरेशन्स के साथ मैं आपरेशन्स कक्ष में गया, जहां उन्होंने मुझे सैन्य स्थिति के बारे में अवगत कराया। उन्होंने मुझे बताया कि हालांकि चीनियों की नीयत के बारे में कोई निश्चित खबर नहीं

है, पर हम किसी भी चुनौती का सामना करने के लिए तैयार हैं। उन्होंने यह भी बताया कि अजेय सेला गढ़ पर हमारा प्रतिरक्षी मोर्चा लगा है, जहां से आगे बढ़कर हमला करना दुश्मन के लिए संभव नहीं होगा। मुझे क्षेत्र और नक्शों की पूरी जानकारी नहीं थी इसलिए मेजर नरिंदरसिंह ने मुझे उन निरर्थक रास्तों के बारे में भी बताया, जहां से होकर खच्चरों के साथ कंपनी समूहों का गुजरना भी मुश्किल था। उन्होंने परिचालन का संभावित ढंग तथा हम चीनियों का मुकाबला करने को किस प्रकार तैयार थे, सब समझाया। उनके अनुसार, एक अन्य ब्रिगेड को अभी शीघ्र आना था जिसे मिलाकर हम चार ब्रिगेडों के साथ और मजबूत हो जाते। वह बहुत अच्छी और प्रभावपूर्ण बातें करते थे, लेकिन बाद की घटनाओं ने सिद्ध किया कि वे सब बनावटी और खोखली थीं।

संभागीय मुख्यालय पर, जहां मैं रोज़ जाता था, एक दिन मेरी भेंट 7 अश्वारोही दल के कमांडर मेजर जमवाल से हुई। तभी मेजर नरिंदरसिंह, आरमर्ड कोर जी० एस० ओ०-2 आपरेशन्स भी वहां आ गए और हम तीनों ने मिलकर इसपर विचार किया कि मौत और विनाश की जीवित मूर्ति के रूप में इन टैंकों की मदद से कैसे चीनियों के हमले को प्रबलता से रोका जा सकता है। चीनियों के पास न तो टैंक थे, न ही वे कोई प्रभावी टैंक-तोड़क अस्त्र लेकर चल सकते थे। हर जगह थल सेना में यह एक मूल सबक दिया जाता है कि टैंक का मुकाबला प्रबलता से टैंक ही कर सकता है। चीनी हमारे देश में कभी भी टैंक नहीं ला सकते थे क्योंकि बीहड़ इलाका उसकी अनुमति नहीं देता था। ठीक सड़क के बावजूद हमारे टैंक भी वहां मुश्किल से ही पहुंच पाए थे। कमांडर मेजर जमवाल और मेजर नरिंदरसिंह दोनों ही चीनियों के मुकाबले ज़रूरत पड़ने पर इन टैंकों की प्रबल प्रच्छन्न शक्ति से सहमत थे। हमने उन कोणों की भी जांच की जिनसे यह टैंक चीनियों को ठिकाने लगा सकते थे, यदि कभी उन्होंने उत्तरी या दक्षिणी चोटियों पर कब्ज़ा किया। हम पूर्णतः आश्वस्त थे कि टैंक में लगी तोपें चीनियों से प्रभावी ढंग से निपट सकती थीं। हालांकि असली वाकये के वक्त मशीनें मौजूद थीं, लेकिन दिमाग नहीं था। जिन्हें इन मशीनों का उपयोग करना था, वे उन्हें अनाथ छोड़कर भाग गए थे।

सेला और जांग की यात्रा

हमारी एक बटालियन पड़ोसी ब्रिगेड के साथ संपर्क बनाने तथा उनकी योजनाओं को समझने के उद्देश्य से 62 ब्रिगेड के साथ लगा दी गई थी। अतः कार्यवाहक ब्रिगेड मेजर के रूप में मुझे प्रथम बार सेला में अग्रवर्ती क्षेत्रों तक जाने का मौका मिला। मैं वहां तैनात भारतीय सैनिकों से उनके अनुभवों पर आधारित आवश्यक जानकारी भी लेना चाहता था, वे संभवतः चीनियों से संपर्क में भी आए

हों। अतः ऐसी जानकारी हमारी ब्रिगेड के लिए उपयोगी होगी। हम पहले ही बोमडिला से गुजर चुके थे, वहां हमने क्षेत्र को तो देखा ही था, उस इलाके में तैनात टुकड़ियों और इकाइयों के कमांडरों से भी मुलाकात की थी।

इलेक्ट्रिकल और मैकेनिकल इंजीनियर्स के कार्यवाहक कमांडर मेजर मलाया और मैं सेला के लिए तड़के ही निकल लिए। रास्ते में सापर कैंप क्षेत्र पड़ता था, जहां सीमा-सड़क-संगठन की मेस स्थित थी। इतने बीहड़ और दूरस्थ क्षेत्र में इतनी सुंदर मेस का होना अपने-आपमें दर्शनीय था। ऐसे इलाके में इतनी सुन्दर इमारतों को बनाने में काफी मेहनत लगी होगी। यहां ठहरने वाले आराम से अपने योजना और निरीक्षण-सम्बन्धी कार्य को मन लगाकर और निष्ठा से पूरा कर सकते थे। सेंगे जोंग जाते समय सीधी और कहीं-कहीं खड़ी चढ़ाई थी। कमांडर ने अपने सामरिक मुख्यालय के रूप में सेंगे जोंग के पास शुक्ला कैंप की स्थापना की थी। जमीन मुलायम थी। रास्ते में अनेक स्थानों पर मामूली भूस्खलन भी नजर आता था। उस क्षेत्र में एक बार की मूसलाधार वर्षा का अर्थ भारी भूस्खलन होता। पर यह देखकर बड़ी तसल्ली होती थी कि सीमा-सड़क-संगठन के कर्मचारी मार्ग-विरोधों को फुर्ती से काम कर तुरंत हटा देते थे। दो-तीन स्थानों पर हमें मार्ग-विरोधों के कारण 15 से 30 मिनट तक रुकना पड़ा। कुछ स्थानों पर पहाड़ों के किनारे तोड़े जाने तक के लिए वाहनों के आवागमन को रोक रखा था। सड़क को खुला रखने के लिए सीमा-सड़क कर्मचारियों में तुरत काम करने की भावना नजर आती थी।

सीमा-सड़क कर्मचारियों में अधिकांश तगड़े और हट्टे-कट्टे स्थानीय आदिवासी स्त्री-पुरुष थे। हमें दो-तीन सुविज्ञ आदिवासी महिलाएं भी मिलीं जो सुन्दर और आकर्षक थीं तथा नई दिल्ली के कनाट-प्लेस की फैशन-परस्त स्त्रियों से मिलती थीं। नेफा के विभिन्न आदिमों के नैन-नक्शों की पहचान में हमारी समझ सीमित थी। अतः हम उन्हें चीनी, जापानी या नेपाली कह सकते थे। यह केवल मिज़ो, मिश्मी अपातानीस, थागिन्स, मोनपास और नागा आदिवासियों के साथ एक वर्ष तक रहने के बाद ही संभव हुआ था कि उनकी वेशभूषा और तौर-तरीकों—खास कर स्त्रियों के केशविन्यास की शैलियों के आधार पर मैं मोटी तौर पर पहचान सकता था कि वे किस आदिम जाति से संबंधित हैं। मैं यह स्वीकार करता हूं कि हमारी हमेशा यह प्रबल इच्छा रहती थी कि हिंदी बोल सकने वाली युवा आदिम लड़कियों से कभी-कभार हो जाने वाली हमारी बातचीत लंबे समय चले। इनमें से कुछ लड़कियों ने चंद अंग्रेजी के शब्द भी सीख लिए थे। मुझे पता चला कि कुछ लड़कियां स्थानीय मुख्यालय में मजदूरिनों और सहायकों के रूप में काम करती हैं। वे सीमा-सड़क-संगठन के लोगों में काफी लोकप्रिय थीं।

इन इलाकों में कामेच्छा काफी प्रबल है जिनका लाभ जानकारी प्राप्त करने

के लिए दुनिया-भर में उठाया जाता है। दुख इस बात का है कि जहां चीनियों ने भारत के विरुद्ध युद्ध में इसका पूरा फायदा उठाया, वहां हम उचित संगठन के अभाव में इस कमजोरी से कोई लाभ नहीं उठा सके। असल में चीनी थल सेना इस संबंध में बहुत व्यावहारिक है। इसमें लड़ाई पर जाते सैनिकों को अपनी औरतें साथ ले जाने की अनुमति है। इससे थके-मांदे अकेले सैनिक की सामरिक दृष्टि से अवांछनीय संगति में पड़ने की संभावना कम रहती है। अधिकांश आधुनिक थल सेनाओं में पुरुषों को अपनी स्त्रियों के साथ सीमित सहवास की अनुमति है। ये स्त्रियां सैन्य दल के साथ ही युद्ध में रहती हैं। यह पुरुषों के लिए नैतिक बल का काम करता है कि वे मोर्चे पर भी अपनी स्त्रियों को देख पाते हैं। मेरे विचार से यह उन्हें शत्रु से अंतिम समय तक लड़ने तथा बहादुरी और वीरता का प्रदर्शन करने की प्रेरणा देता है। ऐसा करने से मामूली प्रशासनिक खर्च तो अवश्य बढ़ेगा और कुछ समस्याएं भी खड़ी होंगी, पर सैनिकों द्वारा अवांछित तत्त्वों से दोस्ती गांठने के खतरे को मोल लेने के बजाय उन समस्याओं को हल करना बेहतर होगा।

सेंगे जोंग से आगे की सड़क पर खड़ी चढ़ाई थी और आवागमन की गति मंद थी। उसकी मरम्मत अभी तक जारी थी। अचानक रास्ते के पेड़-पौधे बदल गए थे और हमारे सामने शांत दिखने वाले देवदारु के जंगल आ गए थे। अब हम सेला घाटी की ओर चढ़ रहे थे। वहीं हमें एक ठिकाना दिखाई पड़ा, जहां 25-पौंड की तोपें लगी थीं। तोपची उत्साह से भरे नजर आते थे।

हम सेला घाटी से थोड़ा पहले स्थित ब्रिगेड मुख्यालय पहुंच चुके थे। वहां मेरी भेंट एक पुराने साथी मेजर अलेक्जेंडर से हुई। वहां ब्रिगेड के डी० क्यू० थे। एक मराठा अफसर, मेजर जयदेवसिंह दत्ता (बाद में ब्रिगेडियर) ब्रिगेड मेजर थे। ब्रिग० होशियारसिंह अग्रवर्ती क्षेत्रों में गए हुए थे। नूरनांग जाते समय बाद में उनसे हमारी मुलाकात हुई। वह काफी प्रसन्न और दृढ़ थे तथा ब्रिगेड मुख्यालय लौटते समय युद्धोत्साह से भरे दिखाई देते थे। हमने ब्रिगेड मुख्यालय पर लगभग आधे घंटे तक सामरिक स्थिति और ढांचे पर विचार-विमर्श किया। वे पहाड़ की बगल में बनी खाई में छिपे हुए थे, जिसकी पर्याप्त छत भी थी। जगह की कमी के कारण थोड़ी तंगी तो जरूर थी, पर वातावरण पूरी तरह से रणक्षेत्र का बना हुआ था। नौजवान आशावादी, प्रसन्न और दृढ़ निश्चय से भरे दिखाई पड़ते थे। मेजर दत्ता संभवतः अपने स्वभाव के कारण अपेक्षाकृत ज्यादा गंभीर और खामोश थे। अलेक्जेंडर ने मुझे बताया कि उनकी ब्रिगेड में आपूर्ति की कोई समस्या नहीं है।

सेला घाटी इतनी ऊंची थी कि वहां से सभी दिशाओं में देखा जा सकता था। प्रतिरक्षात्मक पोजीशन लगभग चौदह हजार फुट की ऊंचाई पर सेला घाटी के आसपास ली हुई थी। यह क्षेत्र तोवांग (10,500 फुट) से लगभग चालीस किलोमीटर दक्षिण में तथा बोमडिला (10,500 फुट) से लगभग 110 किलो-

मीटर दूर उत्तर में स्थित था।। तोवांग के रास्ते में यह सबसे ऊंचा इलाका था। डिराग जोंग लगभग 5,500 फुट की ऊंचाई पर स्थित घाटी है। इसने मुझे एक किले की तरह प्रभावित किया। कुछ ही दिन पूर्व कार्यवाहक कोर कमांडर लेफ्टि० जन० हरबख्शसिंह ने इसके ऊपर उड़ान भरी थी तथा इसके प्रच्छन्न सामरिक महत्व को स्वीकार किया था। यहां सही ढंग से तैनात एक ब्रिगेड को 10 गुना शक्ति से भी नहीं भगाया जा सकता था। इस स्थान से निकला तो जा सकता था, पर इसपर कब्जा कभी नहीं हो सकता था। एक सक्षम कमांडर के नेतृत्व वाली दृढ संकल्पी सेना को यहां से हिलाने के लिए चीनियों को कम से कम तीन डिविजनों (लगभग 30,000 सैनिकों) को जरूरत होती और यह भी काफी नुकसान उठाने और समय खर्च करने के बाद ही संभव हो पाता।

ब्रिगेड मुख्यालय में एक-एक कप चाय पीने के बाद हम जांग की ओर आगे बढ़े। जांग के आसपास के क्षेत्र पर गढ़वाल बटालियन का अधिकार था। इस सूखे इलाके में हमें छोटा प्राकृतिक झरना नजर आया। ईश्वर की लीला भी विचित्र है जो ऐसे बीहड़ क्षेत्र में भी कुछ सुंदर चीजों का निर्माण करता है। सेला घाटी के आस-पास का क्षेत्र बीहड़ों,पथरीली पहाड़ियों तथा बर्फीली हवा से भरा था। ऐसे स्थान पर कोई भी रहना पसंद नहीं करेगा। झरने को पार करते ही हमारी नजर उसके दोनों ओर लगी 6 तोपों पर पड़ी। यह मेजर ब्रह्मसत का तोपखाना था जो बाद में पीछे हटते समय मारे गए थे। उनकी तोपों की गरज सुनकर खुशी होती थी। मुझे तोपचियों ने बताया कि उन्हें तोवांग की दिशा में लगाया गया है तथा वे यदा-कदा गोले छोड़ते रहते हैं। हमें मालूम हुआ कि मेजर ब्रह्मसत तोपखाने और प्रतिरक्षी कामों की व्यवस्था हेतु अग्रिम क्षेत्र में बटालियन कमांडर के पास गए हुए थे। तोप पर नियुक्त अफसर ने बताया कि उनके पास प्रचुर मात्रा में गोला-बारूद है तथा वे चीनियों को परेशान करने की गरज से तोपें छोड़ रहे थे।

यहां हमें किरमिच के जूते, सूती कपड़े और जर्सी पहने कुछ जवान दिखाई दिए। उस समय काफी सर्दी थी, लेकिन जब हमने उनके जूतों और कपड़ों का जिक्र किया तो उन्होंने किसी किस्म की शिकायत नहीं की। उन्हें शीघ्र ही गर्म कपड़े मिलने की पूरी आशा थी। केवल भारतीय सैनिक ही कठिनाइयों की कोई शिकायत नहीं करते हैं। वे पर्याप्त भोजन, वस्त्र और यहां तक कि सही नेतृत्व के बिना भी कठिन से कठिन काम करने को तैयार रहते हैं। तोपखाने पर नियुक्त सभी तोपची हिम्मत से भरे नजर आए। सम्भवतः मेजर ब्रह्मसत ने उनमें यह हिम्मत फूंकी थी।

हमें मिले अधिकांश जूनियर कमीशन अफसरों (जे० सी० ओ०) तथा गैर कमीशन अफसरों (एन०सी०ओ०) में चीनियों को छठी का दूध याद दिलाने का दृढ संकल्प दिखाई पड़ा। यह उल्लेखनीय है कि चीनियों के पास नजदीक के 10,000 मीटर से ज्यादा बड़े क्षेत्र तक मार करने वाली या सेला की रक्षा में तैनात हमारी

25-पौंड तोपों जितनी घातक कोई तोप नहीं थी। दुश्मन के पास केवल मार्टर और हलकी पर्वतीय तोपें थीं, जिनकी मारक शक्ति भी अपेक्षाकृत कम थी। वह इलाका ऐसा नहीं था कि वड़ी तोपों वाले भारी वाहनों को लेकर चला जाता। अतः केवल जवानों और खच्चरों द्वारा ढोई जा सकने वाली छोटी तोपें ही वहां लाई जा सकती थीं। यहां तक कि खच्चरों पर लादकर लाई गई तोपें, जिनकी मारक शक्ति भारतीय 25-पाउंड तोपों से कम थी, भी ज़्यादा दिनों तक हमला-वर चालों में प्रभावी ढंग से काम नहीं दे सकती थीं, क्योंकि चीनी लोग गोला-वारूद वहुत कम मात्रा में ही साथ ला सके थे। केवल तोवांग से वोमडिला तक का रास्ता खोलकर ही वे अपनी विशाल फौज को पर्याप्त रसद और गोला-वारूद पहुंचा पाने की आशा रखते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान वर्मा में उन्होंने यह सवक सीखा था। उस समय हवाई मार्ग से रसद पहुंचाई जाती थी तथा सैनिक गतिविधियों को लंबे समय तक चलाए रखने के लिए फौजों को सड़क से खुद को जोड़ना पड़ता था।

वह क्षेत्र चूंकि चौदह हजार फुट की ऊंचाई पर था, अतः रात को गर्म कपड़ों की ज़रूरत महसूस होती थी। हम नूरनोंग पहुंचे तथा सड़क के किनारे वनी एक लकड़ी की झोपड़ी में दाखिल हो गए। यहां सप्लाई कोर का एक युवा सिख अफ-सर मौजूद था। हमने उसके साथ एक कप चाय और पी तथा थोड़ी देर वातचीत की। हालांकि वह एक जर्सी तथा जैतूनी हरी सूती वर्दी ही पहने था, पर उसने पर्याप्त कपड़ों की कमी की कतई शिकायत नहीं की। लेकिन इतना स्पष्ट था कि उस स्थिति में कोई भी व्यक्ति ज़्यादा समय तक रहना पसंद नहीं करेगा। अतः उसके लिए गर्म कपड़ों की व्यवस्था की जानी चाहिए। वैसे वहुत लोगों के पास पर्याप्त कपड़े थे। मुझे यह जानकर अचंभा हुआ कि सेला की अपेक्षा डिरांग ज़ोंग और वोमडिला में सैनिकों के पास ज़्यादा अच्छे कपड़े थे। उस समय भारतीय थल सेना में लगभग पांच लाख मज़बूत सैनिक थे और निश्चय ही हमारे आयुध भंडारों में गर्म कपड़ों [illegible]ोई कमी न थी। अलवत्ता वर्फ-वचाव वस्त्रों की कुछ कमी थी। ऊंचे स्थानों [illegible] लिए जाते सैनिकों के साथ ऐसा उदासीन व्यवहार करने

राशन और भारी सामान ढोने थे। हालांकि यह स्पष्ट था कि कुछ खास तरह की कठिनाइयों को देखते हुए सैनिकों की जरूरत से कहीं कम संख्या में खच्चर नियुक्त किए गए थे, मुझे पता चला कि खच्चर और उनके चालक, दोनों पर ही क्षमता से कहीं ज्यादा भार था। स्टाफ का कोई अधिकारी इस समस्या के विषय में शायद भूल ही गया था, अन्यथा पर्वतीय क्षेत्र में तैनात ज्यादा से ज्यादा तीन हजार सैनिकों की एक डिविजन के लिए खच्चरों की देश में कोई कमी नहीं थी। वैसे इस समस्या का समाधान सेना के कमांडरों द्वारा 1959 में ही कर लिया जाना चाहिए था, जब यह तय हुआ था कि नेफा में सेना नियुक्त की जाएगी। यह भी प्रतीत हुआ कि ड्रापिंग जोन तक भंडार का सामान पहुंचाने के लिए पर्याप्त नियोजन कार्य नहीं हुआ था। इस तरह की बातें तभी हो सकती हैं, जब उच्च कमांडर की सैनिकों में दिलचस्पी खत्म हो जाए। मैंने यह 1962 में ही नहीं, कमोबेश 1965 और 1971 के युद्ध के दौरान भी देखा था।

हम जाग की ओर आगे बढ़े। रास्ते में गढ़वाल बटालियन मुख्यालय की प्रतीक चौकी दिखाई दी। यहां हमारी मुलाकात एक युवा अफसर से हुई जो वहां एडजुटेंट के रूप में नियुक्त था। वह पर्याप्त हौसले से भरा दिखता था। उसने हमें झरने पार की गश्त-कार्रवाइयों के बारे में सूचित किया। उसने यह भी बताया कि, एक बार उनके एक गश्तीदल ने एक चीनी सिपाही को पकड़ लिया था, लेकिन तभी शोर मचने और फलस्वरूप हुई मुठभेड़ के कारण उसे साथ लाना संभव नहीं हो पाया था, तथापि यह एक साहसी और प्रशंसा योग्य कार्य था जिसके लिए तुरंत वीरता का पुरस्कार दिया जाना चाहिए था। गश्त के समय हमारे सैनिकों द्वारा यह आक्रामक रुख की शुरुआत थी। प्रतिरक्षात्मक स्थिति में भी आक्रामक गश्त लगवाना किसी भी सक्षम कमांडर के लिए एक सामान्य बात है। यह परंपरा हर युद्ध के दौरान दोहराई गई है। इस समय तक हम 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड की पराजय में अनेक सैनिक खो चुके थे, पर नुकसान की विस्तृत जानकारी किसीको नहीं थी। निश्चय ही हमने काफी मेहनत की होगी और गोस्वामी सरीखे युवा अफसरों को उत्साहित किया होगा, जिन्होंने गश्ती दल का नेतृत्व कर चीनी बंदियों को वापस लाने की कोशिश की थी।

जाग के आसपास ज्यादा कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। अग्रवर्ती क्षेत्रों में अपनी प्रतिरक्षा व्यवस्था से संतुष्ट होकर हमने दोपहर बाद सेला जाग से अपनी वापसी यात्रा शुरू की।

सीमा-सड़क-संगठन द्वारा किया गया विशाल कार्य प्रशंसनीय था। उनके द्वारा बनाई गई एक सड़क से एक डिविजन (लगभग 20,000 सैनिक) को पर्याप्त मदद मिल सकती थी। इस सड़क के अभाव में कामेंग डिविजन की सुरक्षा पर विपरीत असर पड़ता। उन्होंने हवाई जहाजों और हैलिकोप्टरों के लिए क्षेत्रीय

पट्टियों का भी निर्माण किया था। 5 हजार से ज्यादा लोगों का दल तथा बड़ी संख्या में स्थानीय आदिम लोग लगभग दो वर्षों से सीमा-सड़क-संगठन के साथ काम कर रहे थे। यदि पहले विचार किया गया होता तो हम चीनियों के खिलाफ मोर्चा लेने के लिए, अत्यंत वफादार स्थानीय लोगों की मदद से अपनी नींव बना सकते थे। तीन हजार किलोमीटर से भी ज्यादा दूर से तथा काफी ऊबड़-खाबड़ रास्ते से आने वाले चीनियों को भी स्थानीय जनता के विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। ये लोग चाहते तो चीनियों की संचार-व्यवस्था बिगाड़कर या अन्य तरीकों से उनके मार्ग में बाधा डाल सकते थे।

सेला क्षेत्र में तीन सिख, एक गढ़वाल और एक डोगरा—कुल पांच बटालियन थे। ये सभी जाने-माने लड़ाका वर्गों से संबंधित थे। वहां गोलंदाज फौज की दो रेजीमेंटों के बराबर मैदानी तोपें, पहाड़ी तोपें, भारी मात्रा में गोला-बारूद, मंझोले किस्म की मशीनगनें, इन्फेंट्री मार्टर और अन्य सेना सामग्री इकट्ठा थी। सेला क्षेत्र में इंजीनियरों का एक समूचा संपूरक दस्ता तथा सीमा-सड़क-संगठन की अतिरिक्त श्रमशक्ति भी उपलब्ध थी। वीरता के कीर्तिगान वाला एक राजपूत ब्रिगेडियर तथा एक सिख ब्रिगेड मेजर (एक लेफ्टि० जन० का भतीजा) क्रमश: फौज के परिचालन कमांडर तथा स्टाफ अफसर थे। ये दोनों ही सैनिक परिवारों से संबंध रखते थे। उनके पास सामान्य स्तर पर दो सप्ताह के लिए और थोड़ी कठिनाई के बाद कुछ ज्यादा समय तक चल सकने योग्य पर्याप्त युद्ध-सामग्री और रसद थी। सेला में कुछ सैनिकों के पास पर्याप्त गर्म कपड़े नहीं थे। शायद समय के अभाव में वे अपने गंतव्य तक पहुंचने से पहले समुचित कपड़े नहीं जुटा सके थे। कुल मिलाकर लगभग दो ब्रिगेड शक्ति की यह मजबूत फौज अजेय किले की हर तरह से रक्षा करने में समर्थ थी। जाने-माने मापदंडों और सैन्य सबकों के आधार पर आक्रमण की योजना तक के लिए चीनियों को तीन डिविजनों (30,000 सैनिकों) की जरूरत होती। हमारे दृढ़ निश्चयी सैनिकों के आगे तो सेला में उनकी छ: डिविजनें भी निष्प्रभावी रहतीं। लेकिन सेला त्यागना चू से भी ज्यादा अपमानजनक ढंग से चीन को दे दिया गया, हालांकि दोनों बार ढंग लगभग एक-सा था।

नेफा के लोगों को वहां हमारी थल सेना पहुंचने के कारण रोजगार, रहन-सहन का अच्छा स्तर तथा आवश्यक वस्तुओं की आसान उपलब्धता की शक्ल में ढेरों लाभ थे—लेकिन इस बड़ी उपलब्धि का सही ढंग से फायदा नहीं उठाया गया। हमारे कुछ लोगों और स्थानीय स्त्रियों के बीच संपर्क स्थापित हो रहे थे जिससे वहां के आदिम लोग खुश नहीं थे। इस क्षेत्र के आदिम जन सीधे और भोले लोग हैं। यहां की स्त्रियों को काफी सीमा तक आजादी है। मैदानी क्षेत्र के लोगों की तुलना में उनके आपसी नैतिक नियम पर्याप्त शिथिल हैं। इस तरह के जीवन की कद्र करनी चाहिए क्योंकि सेक्स के मामले में मैदानी क्षेत्र वालों के

स्वार्थी स्वभाव को समझने में भी उन्हें ज्यादा देर नहीं लगती। झूठे रोजगार और आर्थिक प्रलोभनों के नाम पर स्त्रियों को बहकाने वाले अधिकांश मैदानी पुरुषों के रंगढंग की उन्हें अच्छी समझ है। मैंने अनेक सीमा-सड़क कर्मचारियों के बारे में सुना था जो यहां के पहाड़ी क्षेत्र की स्त्रियों को अपने साथ मैदानी इलाकों में ले गए थे। इनमें से कुछ ने तो इन स्त्रियों के साथ विवाह तक किया था, लेकिन बाद में उन्हें अधर में छोड़ चलते बने थे। इन भोली-भाली स्त्रियों में से अधिकांश को वेश्यालयों की शरण लेनी पड़ी थी। मुझे यह भी पता चला कि राजनैतिक विभाग के स्थानीय सरकारी कर्मचारी भयानक गरीबी की शिकार यहां की स्थानीय स्त्रियों के साथ गुलछर्रे उड़ाते थे। इनमें से कुछ लड़कियों को निश्चय ही चीनियों ने अपना गुप्तचर बना लिया होगा। इस बात की पर्याप्त संभावना थी कि भारतीय सेना की कमजोरियों, अफसरों के सोचने के ढंग, नेफा में हमारी मोर्चेबंदी इन गुप्तचरों के माध्यम से सीमा पार पहुंच जाती हो। इनमें से कुछ जासूस तो नेफा में हमारे नागरिक और सैन्य संगठनों की नाक तले संभवतः वायरलेस के माध्यम से भी संदेश पहुंचाते रहे हों। कुछ चीनी जासूसों को पकड़ा भी गया था, लेकिन बहुत देर से, जब तक वे नुकसान पहुंचा चुके थे।

आसाम राइफल्स के पदों पर अधिकांश गोरखा, स्थानीय आदिम लोग तथा असमी लोग नियुक्त थे। ये सभी स्थानीय संपर्क बनाने में काफी तेज थे। आसाम राइफल्स के कर्मचारियों के हमारी नियमित आरक्षी सेनाओं से भी संबंध थे। अतः असावधानी से या जानबूझकर चीनियों तक उपयोगी सूचनाएं पहुंच रही थीं। लगता था, चीनियों को हमारी सेनाओं के पूरे ढांचे की जानकारी थी। वह बिलकुल सही स्थानों पर मार्गावरोध खड़े करते थे। उन्हें जैसे विश्वास था कि एक बार मार्गावरोध स्थापित होने के बाद भारतीय सेनाएं पीछे हट जाएंगी तथा कोई विरोध नहीं करेंगी, अन्यथा एक छोटी फौज द्वारा, संख्या और साधनों की दृष्टि से काफी बड़ी सेना को धमकाकर हटने के लिए विवश कर देना, आज तक एक रहस्य बना हुआ है। चीनी संभवतः हमारे कमांडरों की एक खास ढंग की प्रतिक्रिया के बारे में आश्वस्त थे। उन्होंने एक छोटी सेना की मदद से बड़े स्तर पर बाजी खेली, और अपनी उम्मीद से कहीं ज्यादा कामयाबी हासिल कर गए।

हम शाम को देर से अपने मुख्यालय पहुंचे। यह एक काफी उपयोगी अनुभव रहा था। हमारे दिमाग में यह बात स्पष्ट हो गई थी कि यदि हमारे सामने व्यूह रचना की कुछ दिक्कतें हैं तो चीनी भी उससे बरी नहीं हैं। कोई भी फौज हमारे खिलाफ आक्रामक चाल नहीं चल पाएगी क्योंकि कुल मिलाकर सेला क्षेत्र में हम चीनियों की अपेक्षा लाभकारी स्थिति में हैं, और हमेशा रहेंगे। सेला असाधारण ऊंचाई और खड़ी चढ़ाई के कारण हर दिशा से अजेय था। पारंपरिक तरीकों से इसपर हमला करने और कब्जा करने के लिए अनेक डिविजनों की जरूरत पड़ती

जो चीनी भरपूर युद्ध की योजना के विना कभी नहीं ला सकते थे। उस समय हमारी सेना को केवल अपनी पोजीशन पर डटे रहना चाहिए था। उन्हें अपना स्थान न छोड़कर चीनियों के लिए वाधाएं खड़ी करनी थीं, जो उन्हें लांघने की कोशिश करते। वाद में कठोर गश्तों के माध्यम से वे उनके वापस आने पर भी रोक लगाते। इस प्रकार चीनी फौज वीच में फंस जाती और भारत सीमा-संरेखन के प्रश्न पर वातचीत करने के लिए ज्यादा मजवूत स्थिति में होता। यह कोई नई वात नहीं थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान वर्मा में जापानियों के विरुद्ध सैन्य गति-विधियों में भाग लेने वाले इस तरीके से परिचित थे। थल सेना विद्यालयों और स्टाफ कालेज में सिखाया जाने वाला यह प्राथमिक सवक है।

दिनचर्या

जैसाकि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूं, हमारे व्रिगेड मुख्यालय को आधारभूत सामरिक नीतियों और सिद्धांतों के एकदम खिलाफ संभागीय मुख्यालय के काफी नजदीक स्थापित किया गया था। चौथी राजपूत वटालियन को मुख्यतः संभागीय मुख्यालय क्षेत्र में दुश्मन के अतिक्रमण को रोकने के लिए तैनात किया गया था। संभागीय मुख्यालय के जनरल स्टाफ का उद्देश्य संभवतः सामरिक महत्त्व और सुदृढ़ प्रतिरक्षात्मक ढांचे के अनुरूप सेना तैनात न कर, संभागीय मुख्यालय को वचाना था। मराठा वटालियन (19 एम० एल० आई०) को सड़क के नजदीक मुख्यतः केंद्रित किया गया था। यह स्थान भी व्रिगेड मुख्यालय से दूर नहीं था। इस वटालियन का इस्तेमाल गश्त लगाने और संभागीय मुख्यालय की सुरक्षा से संवंधित कार्यों के लिए भी होता था। संभागीय मुख्यालय को सुंदर तथा आरामदायक वनाया गया था। इसमें कार्यालय और आवास के लिए 'वाशा-टाइप' कमरे वने थे, हालांकि वंकर तैयार हो चुके थे और स्टाफ के लिए सड़क के ऊपर पहाड़ी की वगल में खाइयां खोदी जा चुकी थीं, किंतु संभागीय जनरल स्टाफ असुविधा के कारण उनमें जाने को तैयार नहीं था। वरिष्ठ अधिकारियों ने अच्छे रहन-सहन की जो मिसाल कायम की थी, उसका सूत्र यही था कि केवल मूर्ख ही असुविधा में रहते हैं।

अपने व्रिगेड मुख्यालय में हमने कमांडर तथा कुछ अन्य अफसरों के लिए वंकरें वनानी शुरू कीं। इस काम के लिए हमें प्रतिरक्षा भंडार और लहरदार लोहे की चादरें दी गई थीं। आराम से रहने की डिविज़न वाली भावना हम लोगों पर भी मंडराने लगी थी।

प्रथम श्रेणी की दो वंकरें वनने में ही प्रतिरक्षा भंडारों का अधिकांश भाग चुक गया था। इनमें से एक व्रिगेड कमांडर के लिए तथा दूसरी व्रिगेड मेजर के लिए थी, जो अव तक छुट्टी से वापस आ गए थे। एक गोलंदाजी रेजीमेंट का

कमांडर, जो ब्रिगेड कमांडर का सलाहकार भी था, बहुत दुखी और नाराज हुआ जब उसने पाया कि ब्रिगेड मेजर और यहां तक कि उसके कार्यालय के लिए तो बहुत सुंदर जगह बनाई गई थी, पर उसे बड़ी मामूली जगह दी गई थी, जबकि वह एक लेफ्टिनेंट कर्नल था।

कमांडर और कुछ अन्य अफसरों के लिए कमोड तैयार करने के लिए कुछ दर्दे लगाए गए। ये अफसर शायद उनके बिना नहीं रह सकते थे। कुछ कमोड सड़क मार्ग से लाए गए थे, लेकिन वे रास्ते में ही टूट गए। कुछ कनिष्ठ अफसरों ने महसूस किया कि उनके पास भी कमोड होने चाहिए, चाहे वरिष्ठों की नकल करने के लिए ही सही। यह आश्चर्यजनक लगता है कि कैसे गैर-सैनिकोचित आदतें संक्रामक बन जाती हैं। जो चीज दूसरों के पास है, उसे प्राप्त करने के लिए हमेशा होड़ रहती है। यदि ब्रिगेड कमांडर के पास सफेद मीनाकारी वाली बढ़िया कमोड है तो ब्रिगेड मेजर चाहेगा कि उसके कमोड पर भूरे रंग की मीनाकारी हो। ब्रिगेड का डी० क्यू० ब्रिगेड मेजर का मुकाबला करने का प्रयास करेगा, जबकि जी० एस० ओ०-3 अपनी कमोड की बनावट में ब्रिगेड मेजर से तो जरा पीछे हो सकता है, पर बाकी लोगों से वह आगे ही रहेगा। अब ब्रिगेड मुख्यालय के छोटे अफसरों की बारी आती है। इनमें ब्रिगेड आयुध भंडार अधिकारी, ब्रिगेड परिवहन अधिकारी, गुप्तचरी अधिकारी आदि शामिल हैं। चूंकि छोटे अफसरों के पास संसाधनों की कमी रहती है, अतः उन्हें घी के खाली डिब्बों को बर्तनों के रूप में, तथा सामान बांधने के डिब्बों को बक्से के रूप में इस्तेमाल करना पड़ता है। इन बक्सों को वे गर्जक बक्से कहते हैं।

कमांडरों और उनके अफसरों द्वारा रणक्षेत्र में इस तरह के मसलों को सामरिक स्थितियों के नियोजन और प्रतिरक्षात्मक गतिविधियों से कहीं ज्यादा महत्त्व दिया जाता था। यदि कोई सैनिक के सादे, कठिन और साहसी जीवन के अनुरूप आचरण करने का प्रयत्न करता तो उसे निखट्टू ठहरा दिया जाता था। इस तरह सोचने के ढंग ने आजादी के बाद भारतीय थल सेना में अपनी जड़ें काफी मजबूत कर ली हैं। यह ब्राउन साहबों (के० सी० आई० ओ०) के कारण हुआ है, जिन्होंने इस तरह की नींव डाली थी। इसपर अंग्रेजों के जाने के बाद भी कोई रोक नहीं लगी।

स्वास्थ्य बनाओ अभियान

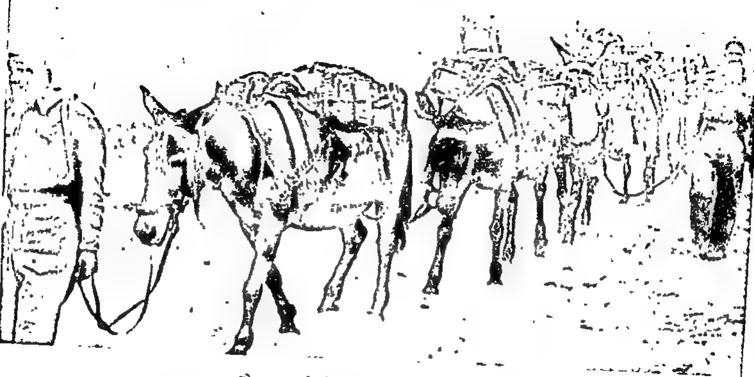
हमने अफसरों की मेस स्थापित की थी, जहां हम दोपहर बाद तथा शाम के वक्त भोजन के लिए मिला करते थे। हमारे ब्रिगेड कमांडर ब्रिगेडियर चौना बढ़िया खाने के शौकीन थे। उन्होंने शायद यह देख लिया था कि सेंगे जोंग-लेह क्षेत्र के ऊंचे क्षेत्र में बेहतर खुराक (पनीर, बादाम, मक्खन और चाकलेट) दिए

है। उन्हें अपनी सेहत वनाने की ज्यादा फिक्र थी। अच्छे से अच्छा खाना खाना तथा फिर से कभी युद्धबंदी न वनना। चूंकि मैं ब्रिगेड का डी० ए० ए० और क्यू० एम० जी० था, अतः उन्होंने मेरे सामने अपनी यह इच्छा जाहिर की कि हमें भी मुर्गे, अंडे और ऊंचाई वाले क्षेत्र में मिलने वाला पूरा राशन मिलना चाहिए। मैंने उन्हें समझाया कि नियमानुसार हम वैसे राशन के लिए हकदार नहीं हैं, क्योंकि हमारा स्थान उसके लिए निश्चित ऊंचाई वाला क्षेत्र नहीं है। हमारे स्थान की ऊंचाई लगभग 5,000 फुट ही थी। कुछ खास क्षेत्र विशेष रियायतों और अतिरिक्त भत्तों के लिए, हकदार थे। उच्च कमांडरों द्वारा कायम की गई मिसालों के आधार पर स्टाफ के लोग धोखे से इन रियायतों और भत्तों का लाभ उठाते थे। विभिन्न स्तरों पर भेदभाव को देखकर काफी गुस्सा आता था। उदाहरण के लिए एक ही इलाके में, पर कुछ किलोमीटर की दूरी पर तैनात, लोगों में भत्तों और राशनों के संबंध में भेदभाव वरता जाता था। इस तरह के भेदभावों को दूर करना कितना उपयोगी होता, कहने की जरूरत नहीं। इनसे भ्रष्ट परम्पराएं फैलती थीं, जिससे अफसर वर्ग का चारित्रिक पतन होता था। यही नहीं, बल्कि वरिष्ठ अधिकारियों की देखा-देखी छोटे अधिकारी भी ऐसी आदतों में मशगूल हो जाते थे। कमांडर और संभागीय स्टाफ की चालाकी से हमारी ब्रिगेड भी ऊंचाई वाले क्षेत्रों की श्रेणी में शामिल कर दी गई थी, जबकि यह सिर्फ 5,000 फुट की ऊंचाई पर थी।

मुझे खाद्य-सामग्री के वारे में पूरी जानकारी रखनी पड़ती थी। सूखा राशन जैसे, आटा, चावल, दाल, तेल, चाय आदि तो पर्याप्त मात्रा में मिल जाता था, लेकिन ताजा सब्जियां नियमित रूप से नहीं मिल पाती थीं। मुझे याद पड़ता है कि हमारे डिरांग जोंग छोड़कर मैदानी क्षेत्र के लिए प्रस्थान करने वाले अंतिम दिन तक भी स्थानीय आपूर्ति केंद्र पर कड़ी दरों पर दो सप्ताह के लिए सूखा राशन उपलब्ध था, हालांकि ताजा सब्जियों, फलों और कुछ कम आपूर्ति वाली वस्तुओं जैसे, अंडे, पनीर आदि की कमी थी।

असीमित दृष्टिभ्रम

एक शाम हम खुले में बैठे थे तभी ब्रिगेडियर ने हमारे मुख्यालय के दक्षिण ओर की पहाड़ियों पर कुछ असामान्य वात देखी। उन्होंने वताया कि चीनी हमारी पोजिशनों के पीछे पहुंच रहे हैं तथा उन्होंने यदा-कदा जलती चोरवत्तियों को देखा है। वह चाहते थे कि तुरंत संभागीय मुख्यालय को इस वात की जानकारी दे दी जाए कि हमारे मुख्यालय के दक्षिण में चीनी पहुंच रहे हैं। हम सभीने उस दिशा की ओर देखा और पाया कि वहां एक धुंधली चिनगारी यदा-कदा टिमटिमा जाती थी। एक स्पष्टवादी युवा अफसर ने, जो ज्यादा चालाक नहीं था, टिमटिमाती



प्लेट १ . [illegible] ए पत्थर



प्लेट १ : आदिवासी



प्लेट ४ : नेफा की आकर्षक स्त्रियां



प्लेट ५ · राष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन् हिराम में जन० पठानिया के साथ—"वे हमारे घर



प्लेट ७ : सिपाहियों के जनरल पिगेयो

रोशनी को गौर से देखने के बाद कहा कि वे चीनी-चोरबत्तियां नहीं बल्कि जुगनू हैं। ब्रिगेडियर ने इस प्रतिवाद से स्वयं को अपमानित महसूस करते हुए उस अफसर को बुरी तरह झाड़ दिया। कुछ चालाक किस्म के स्टाफ अफसरों ने भी उस युवा अफसर की स्पष्टवादिता पर रोष प्रकट करते हुए अपनी असहमति जाहिर की। आखिर जब ब्रिगेडियर ने यह सोचा कि वे चीनी-चोरबत्तियां हैं तो एक नौजवान अफसर को उन्हें जुगनू समझने की जुर्रत कैसे हुई? यह आजादी के बाद से हमारी सेना में विकसित परंपराओं के विरुद्ध था जिनके अनुसार एक कनिष्ठ अफसर अपने से वरिष्ठ अफसरों से असहमति प्रकट करने की जुर्रत नहीं कर सकता, चाहे उनके विचार या उनकी समझ कितनी ही बेतुकी या खोखली क्यों न हो! बहुत-से साहसी, सेवानिष्ठ, दृढ़ और काम के प्रति समर्पित भावना वाले सैनिकों के कैरियर इसी तरह ही व्यवहारकुशलता के अभाव में खत्म हो गए हैं। जो बचे हैं, वे जी-हुजूरी करने वाले कमांडर ही हैं। हम सभीको, जिन्होंने वह रोशनी देखी थी, शीघ्र ही यह विश्वास हो गया था कि वह टिमटिमाहट चीनियों की चोरबत्तियों की नहीं, बल्कि जुगनुओं की थी। निश्चय ही चीनी हमारी पोजीशनों के इतने करीब अपनी चोरबत्तियां कभी नहीं जलाते। न ही वे उस पर्वतीय क्षेत्र में इतना ऊपर-नीचे चलते, जिस तरह जुगनू घूम रहे थे। लेकिन किसी ने भी अपने ऐसे विचार जाहिर नहीं किए, शायद वे फिर से नाराजगी मोल लेना नहीं चाहते थे। ब्रिगेड मेजर को हुक्म दिया गया कि वह संभागीय मुख्यालय को इससे अवगत करा दे। उसने न चाहते हुए भी संभागीय मुख्यालय को फोन किया। हमारे नजदीक की बटालियन को भी यह जानकारी दी गई तथा साथ ही हुक्म भी कि वह अपने गश्ती दल भेजे। तथापि हमने अपने गश्ती दलों द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्टों में कभी भी यह नहीं पाया कि चीनी हमारे क्षेत्र के इतने करीब गश्त लगा रहे थे। 1965 की लड़ाई में भी मुझे पूर्वी मोर्चे पर इसी तरह का एक ब्रिगेड कमांडर मिला था जो हमेशा इसी कल्पना में व्यस्त रहता था कि उसके इलाके में पाकिस्तानी छाताधारी उतर गए हैं। बाद में वह लेफ्टिनेंट जनरल बन गया।

संभागीय मुख्यालय की गोष्ठियां

मुझे अक्सर संभागीय मुख्यालय पर सामान्य गोष्ठियों में शामिल होना पड़ता था। पहली गोष्ठी में आर्डनेंस कोर के एक कैप्टन ने जानकारी दी कि संभागीय मुख्यालय की रक्षा के लिए कोई स्थानीय सुरक्षा कार्रवाई नहीं की गई है। उसने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह हम कैसी लड़ाई लड़ रहे हैं जिसमें संभागीय मुख्यालय की सुरक्षा का भी इंतजाम नहीं किया गया है! अवश्य ही इससे वहां उपस्थित सभी अफसरों को बड़ा अचरज हुआ था कि स्थानीय सुरक्षा की प्राथमिक सैन्य जरूरतों के बारे में एक मामूली अफसर दूसरों को सीख दे। गोष्ठी के

संयोजक वरिष्ठ आपरेशनल स्टाफ अफसर ने इस गंभीर भूल पर तुरन्त ध्यान देकर खाइयां खोदने के निर्देश दिए। पर एक अन्य आपरेशनल स्टाफ अफसर उस आर्डेनेंस अफसर की ओर घूरता रहा और मुझे यकीन है कि गोष्ठी के बाद उस युवा अफसर पर कड़ी झाड़ पड़ी होगी।

न्यामका चू में 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड की पराजय से कमांडरों और स्टाफ अफसरों को पर्याप्त तजुर्बा हासिल हो जाना चाहिए था, पर लगता था, उससे उन्होंने कोई सबक नहीं सीखा। सैन्य कार्रवाई के सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू—परिचालन क्षेत्र के मर्मस्थल की सुरक्षा के बारे में भी रवैया अकर्मण्यता तथा सुस्ती वाला रहा। मुख्यालय स्टाफ द्वारा एक और सामान्य गोष्ठी का आयोजन किया गया, पर कुछ भी उपयोगी जानकारी हासिल नहीं हुई। मुझे ज्ञात हुआ कि कुछ कनिष्ठ अफसर चाहते थे कि मुख्यालय को सैन्य कार्रवाई के लिए तैयार खाइयों में चले जाना चाहिए; पर परिचालन स्टाफ असुविधा के डर से इस बात को अक्सर टालता रहता। आखिर बंकरों में रहना और कैंप चारपाइयों पर सोना या दुरूह खंदकों में कार्य करना उतना आरामदायक तो नहीं ही हो सकता था जितना कमरों में रहना और निवाड़ के पलंगों पर सोना!

संभागीय मुख्यालय द्वारा इस ढंग से काम-काज करना अकल्पनीय था, जबकि गुप्तचरों की सूचनाएं संकेत दे रही थीं कि चीनियों की गतिविधियां अभी बंद नहीं हुई हैं। असल में चीनियों को सेला पोज़ीशन पर प्रहार के लिए दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ता देखा गया था। इन गतिविधियों की सूचना अग्रिम दस्तों द्वारा ब्रिगेड और संभागीय मुख्यालय को भी दे दी गई थी।

गश्त

प्रतिरक्षात्मक और आक्रामक, दोनों ही तरह की सैनिक कार्रवाइयों का मूल आधार गश्त है। गश्त कमांडरों की आंख और कान की तरह से है। यदि प्रभावी ढंग से गश्त कार्य किया जाए तो आधी लड़ाई जीती गई समझनी चाहिए। गश्त के अच्छे परिणामों से सैनिकों को नैतिक बल मिलता है। गश्त के बारे में आधारिक प्रशिक्षण सभी थल सेनाओं में दिया जाता है। न जाने क्यों, हमारे संभागीय मुख्यालय द्वारा गश्तों का आयोजन गंभीरतापूर्वक नहीं किया जा रहा था। भारतीय थल सेना यह सिद्ध कर चुकी थी कि वह इस मामले में किसीसे कम नहीं है और चीन से तो निश्चय ही बेहतर है। उसे द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बर्मा की सैन्य कार्रवाइयों के समय अमरीकी और ब्रितानी कमांडरों ने भी स्वीकार किया था। बर्मा में चीनी डिविज़नों को जहां सड़क बनाने और श्रमप्रधान कार्यों में लगाया गया था, वहां भारतीय फौजों ने जापानियों के विरुद्ध सीधी सैनिक कार्रवाई में हिस्सा लिया था। यह सही है कि चीनियों ने कोरिया के साथ युद्ध में कुछ

तजुर्बा हासिल कर लिया था, पर भारतीय सैनिक और अफसर मुख्यतः वही थे जो द्वितीय विश्वयुद्ध में भाग ले चुके थे। कम से कम वे गश्त के मामले में तो ढीले नहीं रहे थे, जोकि कनिष्ठ अफसरों का कार्य होता है।

गश्त के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता देकर उसे गंभीर और सुव्यवस्थित ढंग से करना चाहिए पर वास्तव में 1962 के दौरान इसे बेढंगे, अनियमित और आकस्मिक ढंग से संगठित किया गया। असल में कुछ मामलों में तो इसे पुराने हिसाब चुकता करने के हथियारस्वरूप इस्तेमाल किया जा रहा था। एक दिन मुझे एक मराठा बटालियन के कैप्टन ने अपनी व्यथा-कथा सुनाकर अफसोस से भर दिया। चूंकि मैं ब्रिगेड के अनुशासनात्मक मामले देख रहा था, अतः यह अफसर मेरे पास ब्रिगेड कमांडर से भेंट की इच्छा से आया था। इस युवा कैप्टन की अपने कमान अफसर से नहीं बनती थी। वह एक स्पष्टवादी अफसर था जिसे दुरूह गश्तों पर अक्सर भेजा जाता था। कैप्टन का विचार था कि कर्नल द्वारा उसे गश्तों पर भेजने का उद्देश्य तकलीफ पहुंचाना था। वह भयभीत युवा अफसर इस बात को ब्रिगेड कमांडर तक पहुंचाना चाहता था। मैंने इस अफसर को यह मामला अपनी बटालियन के माध्यम से रखने की सलाह दी। इस बीच मैं तथ्यों की जांच कर मामला ब्रिगेड कमांडर के कानों तक पहुंचाना चाहता था। मैंने अफसर को यह सलाह भी दी कि वह किसी तरह की अनुशासनहीनता बरत कर कमान अफसर को उसके खिलाफ कोई कार्रवाई करने का मौका न दे। वह अफसर काफी तनावग्रस्त था और ऐसी स्थिति में अनुशासनहीनता की अक्सर संभावना बनी रहती है। मैं अपने अनुभव से यह जानता था कि वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा श्रेष्ठ और सक्षम युवा अफसरों को परेशानी में डालना तथा उनके कैरियर को समाप्त करना कितना आसान होता है।

इसके बाद मैंने बटालियन के मामलों में कुछ ज्यादा दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी। मैं यह पता लगाना चाहता था कि क्या कमान अफसर का ऐसा रंग-ढंग सामान्य बात थी या कि युवा अफसर गलती पर था, और उसके द्वारा सुनाई गई कहानी किस हद तक सही थी। मुझे मालूम हुआ कि बटालियन में गुटबंदियां बनी थीं जो उसकी जड़ों को खा रही थीं। इससे उसकी कार्यक्षमता में भी काफी गिरावट आई थी। यह बात उनके गश्ती दलों के परिणामों से स्पष्ट थी, जो कभी भी कोई महत्त्वपूर्ण जानकारी नहीं लाए थे। न ही वे उनको सौंपे गए कार्यों को पूरे तन-मन से करते थे। पूरे सैन्यकाल के दौरान उस बटालियन का कार्य कभी संतोषजनक नहीं रहा। शायद जैसा वहां वातावरण था, उसमें ज्यादा कुछ की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी। पर इससे पहले कि मैं मामले से ब्रिगेड कमांडर को अवगत करा पाता, मुझे पता चला कि उसका कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि स्वयं कमांडर भी गंभीर रूप से तनावग्रस्त थे।

राजपूत बटालियन का वार्षिकोत्सव

4 राजपूत बटालियन के रणक्षेत्र में पहुंचने पर उसकी कमान लेफ्टि० कर्नल प्रेमलाल से लेफ्टि० कर्नल अवस्थी ने संभाली थी। ले० कर्नल प्रेमलाल की नियुक्ति बाहरी क्षेत्र में कर दी गई थी। ले० कर्नल अवस्थी सिपाहियाना योग्यताओं वाले लंबे कद के अफसर थे। वह काम ज़्यादा बात कम के सिद्धांत पर अमल करते थे। अपने अफसरों और जवानों से उन्हें पूरा प्रेम और सम्मान प्राप्त था। उस दौरान मेरी उनसे तीन-चार बार भेंट हुई थी तथा हमेशा मैंने उन्हें उत्साह और आशा से परिपूर्ण पाया था। 4 राजपूत बटालियन अपने वार्षिकोत्सव को तत्कालीन स्थिति में जिस धूमधाम से मना रही थी, उसे समझना मुश्किल था, खास कर ऐसे समय जबकि कर्नल अवस्थी उसके कमान अफ़सर थे। उत्सव की शाम को जनरल पठानिया और दूसरे अनेक अधिकारी आमंत्रित किए गए थे। ब्रिगे० चीमा के साथ मैं भी वहां उपस्थित था। मेज पर बड़ी मात्रा में चांदी फैला दी गई थी। कुछ वरिष्ठ अधिकारी इसकी प्रशंसा कर रहे थे, पर मंझले अफसर युद्ध-क्षेत्र में भी इतनी चांदी और फिज़ूलखर्ची को देखकर भौंहें चढ़ा रहे थे। कुछ कह रहे थे कि यह इसी अवसर के लिए लाई गई थी, जबकि कुछ दूसरों का विचार था कि यह पिछले कमान अफसर के निर्देशों के आधार पर किया गया है। कुछ भी हो, इतनी चांदी और फिज़ूलखर्ची वहां शोभा नहीं देती, जहां सैन्य गतिविधियां जारी हों। मेरे पास यह मानने के पर्याप्त कारण थे कि उस शाम को आलीशान ढंग से मनाने के लिए स्टाफ अफसरों और दूसरों को काफी छूट दी गई थी। इस उत्साह में वे उसी परम्परा का पालन कर रहे थे जो आज़ादी के बाद से सेना में विकसित हुई थी।

सेना में अवांछित फिज़ूलखर्ची, जनरल थिमय्या द्वारा किए जा रहे विरोध और दूर करने के प्रयासों के बावजूद एक परम्परा के रूप में विकसित हो रही थी। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय थल सेना के विचारों और उसके विदेशी शराब-प्रेमी जनरल अफसरों की नीतियों के कारण, जिनके अनुसार केवल मूर्ख ही असुविधा में रहते हैं, थिमय्या और समान कमांडरों के आडंबरहीन और सादे जीवन के बहुत कम ही अनुयायी थे। एक आधुनिक थल सेना में कैसे सामंतवादी परम्पराएं विकसित हो रही हैं, इस समस्या की जड़ तक पहुंचने के लिए कुछ शोध-कार्य की ज़रूरत होगी। विश्व की सभी प्रगतिशील और आधुनिक सेनाओं ने पार्टियों, उत्सवों, रिवाजों और वर्दियों के प्रति अपनी नीति सादगीमूलक और पुनर्गठित की है, पर भारतीय थल सेना इस मामले में पीछे ही लौट रही है। जनरल अफसरों के लिए खास मेज़ें तथा खास ढंग का खाना, वर्दियों पर बड़ी संख्या में फालतू 'कलर' लगाना, पार्टियों में जनरलों के लिए विदेशी तथा दूसरों के लिए देसी शराब की

व्यवस्था जैसी बातें मेसों और रेजीमेंटों की जिंदगी में एक परम्परा बन चुकी हैं। इसके अलावा भी अनेक अनियमितताएं हैं, जिनका उल्लेख मैं एक अगले अध्याय में करूंगा।

कर्नल अवस्थी, जो असल में सैन्य गतिविधियों में व्यस्त थे, केवल मेहमानों के स्वागत भर के लिए पार्टी में आए थे। अपनी बटालियन का एक महत्वपूर्ण दिन मनाने के लिए डिविजन में उनकी यह पहली पार्टी भी थी। खूब शराब उड़ रही थी और हम उस शाम को पूरे मनोरंजन के साथ बिता रहे थे। जैसाकि ऐसे मौकों पर हमारी सेना में सामान्यतः होता है, वहां छोटे-छोटे वर्ग बना लिए गए थे। अति कनिष्ठ अफसर, यानी लेफ्टिनेंट और कैप्टन एक कोने में थे, जो दिखाई और सुनाई नहीं पड़ रहे थे; 11 से 18 वर्ष की सेवा वाले मेजरों ने एक अपना अलग दल बना लिया था; वरिष्ठ अफसर जनरल के इर्द-गिर्द जमा हो गए थे, जो अपनी शराब में पूरी तरह मस्त था।

युद्धकाल के दौरान रणक्षेत्र की व्यूह-रचना की कमान संभालने वाले जनरल अफसर के हाथ में अपने देश के भविष्य-संबंधी निर्णायक अधिकार होते हैं। वह विजय द्वारा दुनिया की नजरों में अपने देश का नाम ऊंचा कर सकता है, या शर्मनाक और कायरता-भरे कामों से वह इसे मिट्टी में भी मिला सकता है। विभिन्न स्तरों पर एक कमांडर कितना क्षेत्र दिलवा या छिनवा सकता है, इसकी सीमा का सही निर्धारण तो कभी संभव नहीं हो सकता, पर इस विषय पर एक सामान्य अनुमान से उसकी क्षमताओं का संकेत मिल सकता है। एक बटालियन की कमान संभाले एक कर्नल दुश्मन के क्षेत्र का कुछ हजार ग्य उनकी सकता है या इतने ही अपने क्षेत्र से हाथ धो सकता है। एक ब्रिगेड कमांडर तीन हजार से अधिक सैनिकों के साथ मिलकर 8 से 25 किलोमीटर का क्षेत्र अर्जित कर सकता है या उतना ही गवा सकता है। इसी प्रकार एक मेजर जनरल या लेफ्टि० जनरल द्वारा लिए निर्णयों का अर्थ 25 से 75 किलोमीटर क्षेत्र की प्राप्ति या नुकसान हो सकता है। लड़ाई के समय काफी शीघ्र निर्णय लेने होते हैं, जैसाकि 1962, 1965 और 1971 की लड़ाइयों में अक्सर हुआ था। इन निर्णयों की वास्तविकता के विषय में देश के बहुत कम लोग ही परिचित हैं। सक्षम जनरलों द्वारा लिए गए इन निर्णयों के बिना भारतीय थल सेना कभी इतनी तीव्र गति से ढाका को न जीत पाती या इसके विपरीत, अर्थात् निर्णय के अभाव में शकरगढ़ के विरुद्ध मिलती विजय रुक गई तथा हमें छंब जौड़िया क्षेत्र से हाथ धोना पड़ा।

हममें से कुछ अफसरों की आंख जन० पठानिया की ओर थी, जो शराब में मस्त थे। तभी किसीने आकर उन्हें एक संदेश दिया। जन० पठानिया ने कर्नल अवस्थी से बात की। उन्होंने कुछ गश्ती दलों के संबंध में ब्रिगे० चीमा से भी बातचीत की। ब्रिगे० चीमा ने कर्नल अवस्थी को कुछ निर्देश दिए। यह सब चर्चा

हमारे ठिकानों की खबर लेने आए एक चीनी दस्ते से निपटने के लिए गश्ती दल भेजने के संबंध में थी। मुझे याद पड़ता है कि जन० पठानिया ने ज़ोर से कहा था कि वह 'चीनियों को कुचलकर रख देंगे—वे दो मजबूत गश्ती दलों के बीच में होंगे।' और अपने दोनों हाथों को मुक्कों की शक्ल में बनाकर उन्होंने दिखाया था कि वह चीनियों को किस तरह कुचलेंगे। वहां उपस्थित कुछ अफसर अपने नये जनरल के विषय में चर्चा कर रहे थे जिन्होंने एक ज्यादा इतराने वाले जनरल निरंजनप्रसाद से कमान संभाली थी। जन० निरंजनप्रसाद को 7 ब्रिगेड की हार के बाद कमान से हटा दिया गया था। कुछ दूसरे अफसर जनरल द्वारा इतना ज़ोर से बोलने और हवाई बातें बनाने को पसंद नहीं कर रहे थे। जनरल पठानिया द्वारा अर्जित महावीर चक्र और मिलिटरी क्रास के बारे में लोगों ने वहां तमाम तरह की कहानियां सुनानी शुरू कर दीं। वीरता पुरस्कारों के संबंध में अच्छी, बुरी, उदासीन और निन्दात्मक कहानियां सुनने को मिल रही थीं। लोगों ने कुछ महावीर चक्रों का भी ज़िक्र किया जो पक्षपातपूर्ण तरीके से कुछ ही समय पहले अवांछित जल्दबाजी में दिए गए थे। जनरल की बड़ी-बड़ी बातों से मैं किसी भी तरह प्रभावित नहीं था, बल्कि ब्रिगे० चीमा की मानसिकता के विषय में उसे अवगत कराने की मेरी पहले की इच्छा भी अब घुलने लगी। हालांकि जन० पठानिया ने अपनी वीरता का नाटकीय प्रभाव जमाने का प्रयत्न किया तथा चीनियों को एक सबक सिखाने की तीव्र इच्छा भी जाहिर की। आखिर हमारे दिमाग में द्वितीय विश्वयुद्ध में बनी चीनी सिपाही की एक कमज़ोर तस्वीर थी। — कि गए पिछले [illegible] इसमें थोड़ा परिवर्तन आ सकता था, पर इससे वह रातों-रात अतिमानव नहीं बन सकता था। निश्चय ही वह 'दस फुटा' नहीं था और अभी तक हमारे सैनिकों ने उसे रणक्षेत्र में जांचा नहीं था।

कर्नल अवस्थी ने पार्टी से छुट्टी ली तथा अपने एडजुटेंट के साथ वह अपने सैनिकों को आवश्यक निर्देश देने चले गए। सैनिक तब तक गश्त को जाने के लिए एकत्र हो चुके थे। शाम की वह पार्टी भी कर्नल अवस्थी के जाने के कुछ समय बाद खत्म हो गई। गश्त के लिए प्रस्थान करने से पूर्व सैनिकों का कर्नल अवस्थी ने उत्साह बढ़ाया। सैनिकों ने उसे काफी ध्यान से सुना। उसके देशभक्तिपूर्ण शब्दों का अच्छा असर था, पर गश्त के लिए जाते सैनिकों की कठिनाई भी साफ दिखती थी। कुछ सैनिकों के पास तो उस विशेष स्थिति के लिए जंगली जूते थे, पर बाकी लोग भारी सैनिक बूट पहने थे, जिनसे चलते समय आवाज़ होती थी। उनके रसद के बक्से भी चलते समय आवाज़ करते थे, जिससे ज़ाहिर था कि पैकिंग ठीक नहीं हुई है। इसे जताने के लिए किसी खास प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती कि गश्त के लिए जाते समय हलकी और सही वर्दी पहननी चाहिए। इस तरह की भूलों के लिए नेहरू, कृष्णा मेनन, कौल या पठानिया को दोष नहीं दिया जा सकता।

न ही उसके लिए कर्नल अवस्थी दोषी थे जिन्होंने बटालियन की कमान कुछ ही दिन पहले संभाली थी। कर्नल अवस्थी के लिए अपना पद-भार संभालने के बाद ज्यादा कुछ की गुंजाइश नहीं थी, पर फिर भी जितना सम्भव था, निश्चय ही उन्होंने किया। मैं एक दूसरे कमान अफसर को भी जानता था जिन्होंने अपने सैनिकों के सम्मुख कभी भाषण नहीं दिया था। यहां तक कि तब भी नहीं, जब वे किसी संगीन अभियान के लिए प्रस्थान करने वाले हों। इस तरह वह कभी भी अपने सिपाहियों में उस व्यक्तिगत छाप को नहीं छोड़ सके थे, जो सैनिक कार्रवाइयों में अति महत्त्वपूर्ण होती है। कर्नल अवस्थी संभवतः उन चंद वरिष्ठ कमांडरों में एक थे जो अपने सैनिकों के प्रति कर्तव्यनिष्ठ थे। वहां उस समय सभी सैनिक इकट्ठा नहीं थे, पर इसके बाद उन्होंने शेष को वायरलेस पर साफ़ निर्देश दे दिए ताकि तुरन्त समुचित कारवाई हो सके।

अमेरिकी राइफलें

17 नवम्बर, 1962 को मुझे अमेरिकी स्वचालित राइफलों के आने की खबर मिली। उस समय मैं सभागीय मुख्यालय पर ही था। उन्हें जारी करने का काम सभागीय मुख्यालय की जनरल स्टाफ शाखा द्वारा नियमित हो रहा था। इसे मेजर नरिंदरसिंह, आरमर्ड कोर जी० एस० ओ०-2 (परिचालन) नियंत्रित कर रहे थे। मैंने उनके सामने राइफलों को देखने की इच्छा प्रकट की। उन्हें देखकर तथा उनकी उपयोगिता और गोली-चालन क्षमता से प्रभावित होकर मैंने महसूस किया कि हमें अपनी ब्रिगेड के लिए इन राइफलों को तुरन्त प्राप्त कर लेना चाहिए। मैंने ब्रिगेड मेजर से टेलीफोन पर बात की। वह भी इससे सहमत थे। हमें ज्यादा से ज्यादा राइफलें जारी करवा लेनी चाहिए। पर मेजर नरिंदरसिंह शायद कुछ और सोचे बैठे थे। उन्होंने बताया कि इन हथियारों के जारी होने में अभी देर लगेगी क्योंकि इससे पहले आवंटन का तरीका तय होगा और कुछ स्टाफ कार्रवाई पूरी की जाएगी। उन्होंने यह भी बताया कि पहले वे प्रशिक्षकों के लिए एक संगठन शुरू करना चाहते है, उसके बाद ही हथियार जारी किए जाएंगे। हमारे पास समय की कमी थी। चीनियों की हमलावर गतिविधियों की खबरें मिल रही थीं। जैसी स्टाफ कार्रवाइयां पूरी करने की बात मेजर नरिंदरसिंह कर रहे थे, वह समय उनके लिए कतई नहीं था। इसलिए मैंने उनसे तदर्थ आवंटन की प्रार्थना की ताकि उन्हें सैनिकों के पास जल्दी से जल्दी पहुंचाया जा सके। मेजर नरिंदरसिंह मेरे सुझाव से सहमत नहीं हुए। उनका कहना था कि वह सभी कारवाइयां पूरी करेंगे। किसी प्रकार मैंने स्टाफ कालेज के अपने सहपाठी चंदर गुप्ता को इसके लिए तैयार किया। उन्होंने यह महसूस किया, हथियारों को भंडार में जमा कर रखने के बजाय उनका इस्तेमाल होना चाहिए और तुरन्त ही उन्होंने मुझे

राइफल आवंटन पर्ची दे दी । दो जनरल स्टाफ अफसरों के व्यवहार में कितना अंतर था !

मैंने हथियारों के इस्तेमाल के बारे में निर्देश देने के खयाल से उन्हें ब्रिगेड मुख्यालय भेजने की व्यवस्था कर दी। मैंने मराठा बटालियन के सेकंड-इन-कमांड मेजर कुलकर्णी से भी बात की जो इन हथियारों के इस्तेमाल पर हिचकिचा रहे थे। उनका विचार था कि जवान सिर्फ उन्हीं हथियारों को पूरे भरोसे से चला सकते हैं जिनका वे लम्बे अरसे से इस्तेमाल करते आ रहे हैं, जैसे पुरानी 303 राइफलें। वास्तव में जी० एस० ओ०-2 (परिचालन) ने हाल ही में प्राप्त गोला-बारूद के बक्सों में से एक का गोला-बारूद मेरे सामने ही बाहर फेंक दिया था तथा मुझे कहा था कि वह उसे शौचकार्य के लिए इस्तेमाल करेंगे। मुझे ज्यादा हैरानी इस बात से हुई थी कि जी० एस० ओ०-2 (परिचालन) एक ओर तो हथियार बांटने के लिए कथित स्टाफ कार्रवाई की योजना बना रहे थे, दूसरी ओर वह साथ-साथ अगली सुबह मैदानी क्षेत्र के लिए प्रस्थान करने की तैयारी भी कर रहे थे। ये दोनों बातें किसी भी तरह एक-दूसरे से मेल नहीं खाती थीं। बहादुरी और कर्तव्य-बोध के नाम पर यह बहानेबाजी क्यों? यह दिलचस्प है कि जी० एस० ओ०-2 (परिचालन), जिनका रिकार्ड कलंकरहित नहीं था, बाद के साल में मेजर जनरल का पद प्राप्त करने में सफल हो गए जबकि चंदर गुप्ता को ले० कर्नल के पद से ही सेवामुक्त होना पड़ा।

संभागीय मुख्यालय के पास की खाइयां

हमारे ठिकाने से डिरांग ज़ोंग गांव जाने वाली सड़क से ज़रा ऊपर, सीमा-सड़क कर्मचारियों की मदद से, संभागीय इंजीनियरों द्वारा एक बड़ा खाई समूह तैयार किया गया था। संभागीय मुख्यालय का संचालन इन्हीं खाइयों से होता था। यह खाई समूह पहाड़ी के निचली ढलान पर था। सामरिक दृष्टि से यह संभागीय मुख्यालय के स्थान के मुकाबले ज्यादा सुरक्षित था।

सैन्य गतिविधियों के शुरू होने के बाद भी किसी घाटी में बनी बैरकों में रहना हर सामरिक नीति और सामान्य ज्ञान के विरुद्ध है। एच० क्यू० 4 इन्फेंट्री डिविज़न 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड की कहानी दोहरा रहा था। मुख्यालय को एक ज़्यादा सुरक्षित और सामरिक दृष्टि से बेहतर स्थान मे ले आने के लिए जनरल स्टाफ को सक्षम होना चाहिए था, यद्यपि वह थोड़ा असुविधाजनक अवश्य होता। आखिर युद्ध लड़ना खेल नही है। इसका रिश्ता खून और गोलियों से होता है।

यदि हम लड़ाई के दौरान या उसके प्रशिक्षण के दौरान मामूली असुविधाओं की भी चिंता करते हैं तो हमें फौज और उनके कमांडरों की भी ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। हालांकि स्टाफ में रहने वालों को छोड़कर सभी कनिष्ट

अफसर हमेशा असुविधाओं में ही जीते हैं—चाहे नदी किनारे हों या पहाड़ की चोटी पर। वरिष्ठ अफसरों को पहाड़ों पर चढ़ते समय कुछ असुविधाओं और कठिनाइयों में इसलिए हिस्सा बटाना पड़ता है क्योंकि वहां तक न तो हवाई पट्टी पहुंच पाती है न ही कोई लिफ्ट। यदि सभागीय मुख्यालय के वरिष्ठ अफसर खाइयों में रहकर कुछ असुविधाओं के अभ्यस्त हो जाते तो उनमें एक आत्मविश्वास पैदा हो जाता। उसके बाद 'जान बचाकर भागने' के पहले वे कुछ सोचते-विचारते।

एक सिपाही के लिए दृढ़ता का कोई विकल्प नहीं है। हमारे सभी जवान और कनिष्ठ अफसर मजबूत थे। जरूरत इसी बात की थी कि वरिष्ठ अफसरों में भी शारीरिक और मानसिक दृढ़ता विकसित होती। यदि ऐसा हो जाता तो नेफा युद्ध की कहानी कुछ और ही ढंग से लिखी जाती। वरिष्ठ कमांडरों के रंग-ढंग से परिचित विदेशी एजेंसियों ने समझौते और विच्छेदन के लिए सबसे बढ़िया मसाला पेश किया। यदि भागना पूर्व नियोजित था तो व्यर्थ में बंकरों और खाइयों पर मेहनत और रुपया क्यों खर्च किया गया? स्पष्ट है, उच्चाधिकारियों में से किसीको संभवतः यह जानकारी थी कि कोई लड़ाई नहीं होगी। चीनियों की बेहतर स्थिति, कौल की अक्षमता, गर्म कपड़ों की कमी आदि के बारे में झूठे प्रचार की योजना बन रही थी। कोई अधिकारी सुरक्षा की हमारी पूरी तैयारी और बेहतर ठिकानों की चर्चा नहीं कर रहा था।

जहां तक डिरांग घाटी के पिकनिक स्थल पर स्थित हमारे सभागीय मुख्यालय का प्रश्न है, अभी तक कोई उस गुत्थी को नहीं सुलझा सका कि ऐसे असुरक्षित स्थान को चुनने के पीछे क्या कारण था।

रसद आपूर्ति क्षेत्र

हमारे ब्रिगेड मुख्यालय और सभागीय मुख्यालय के बीच की खाइयों के बीच के एक स्थान को साफ किया गया ताकि वहां हवाई जहाज से आवश्यक सामान गिराया जा सके। हर रोज हवाई जहाज से रसद गिराई जाती थी। शाम को टहलने के लिए जाते समय हम उस क्षेत्र में सभी तरह की सामग्री देखते थे, जिसमें गोला-बारूद की पेटियां, ताजा राशन तथा मेल के डिब्बे शामिल थे। कई बार चीजों को नीचे गिराने के बाद तुरन्त नहीं उठाया जाता था जो इस बात का संकेत था कि उन चीजों की फौरन कोई जरूरत नहीं थी। सप्लाई डिपो से जांच करने पर मालूम हुआ कि उनके पास सूखा राशन काफी मात्रा में जमा हो गया था। लेकिन उनकी मुख्य समस्या थी फार्मेशन मुख्यालय के अफसरों के लिए ताजा रोटी, मक्खन, अंडे आदि जरूरतों को पूरा करने की। मुझको विश्वास है कि हमारे मुख्यालय की भांति अन्य स्थानों पर उच्च कमांडर स्वयं

को सैन्य कार्रवाइयों में लगाने के बजाय स्वास्थ्य बनाओ अभियान में ही जुटे थे।

सही देखभाल के अभाव में पेट्रोल के पीपों, दूध के डिब्बों आदि को अक्सर निकटस्थ गांवों के लोग अपने यहां उठा ले जाते थे। मैंने अक्सर सैर के दौरान गांवों में सेना की रसद वाले पेट्रोल के पीपे और दूध के डिब्बे देखे थे। क्षेत्र में कार्यरत सभी सेनाओं में इस प्रकार के नुकसान होते ही हैं। संभवतः स्थानीय जनता इनमें से कुछ चीजों में सिपाहियों के साथ हिस्सा बंटाना अपना विशेषाधिकार समझती है। यह सामग्री किसी जवान जे० सी० ओ० या अफसर द्वारा किसी स्थानीय सुंदरी के साथ बिताए गए कुछ आनंददायक क्षणों के बदले में भी गांवों में पहुंचती है। सेना में कुछ ज्यादा प्रभावी लोग अपनी शारीरिक जरूरतों को अपने निजी कमरों या बंकरों में पूरी करते थे, तथा बदले में दूध के डिब्बे, चाकलेट, चीनी और चाय जैसी उन वस्तुओं को दे देते थे जिन्हें आसानी से छोटे थैलों में छिपाकर ले जाया जा सकता था। अनेक वर्षों बाद जब मैं इन इलाकों में फिर गया था, मैंने एक मेजर जनरल को स्थानीय सुंदरियों के साथ रंगरलियां मनाते पाया था। उनका यह मेलजोल अश्लीलता की सीमा लांघता हुआ खुलेआम चल रहा था। मुझे पूरा विश्वास है कि ऐसे जनरलों के प्रति स्थानीय आदिम लोगों में कोई सम्मान का भाव नहीं होता, यद्यपि अपनी भयानक गरीबी के कारण वे इसे प्रकट नहीं करते और परेशानी से बचने के लिए बाहरी लोगों को इस तरह की चीजों की अनुमति दे देते हैं। मैंने यह बात राष्ट्रीय हित की कीमत पर अन्य आदिम क्षेत्रों में भी घटित होते देखी थी। शिखरस्थ लोगों द्वारा यदि इस तरह की मिसाल कायम की जाए तो छोटे स्तरों तक उसके पहुंचने में देर नहीं लगती। यह मैंने बाद के वर्षों में नागालैंड और मिजोरम में पर्याप्त मात्रा में देखा था।

आदिम जनसंख्या

कामेंग डिविजन में अधिकांश निवासी मोनपा हैं। यद्यपि उस इलाके में दूसरे वर्गों के आदिम जन भी हैं, पर मोनपा ही ज्यादा होशियार, हट्टे-कट्टे और प्रभुत्व वाले हैं। वे स्वातंत्र्य प्रेमी व्यक्ति हैं जिनकी ज़रूरतें सीमित हैं। वे धोखाधड़ी और चालाकी से दूर हैं। यदि नागरिक प्रशासन और सेना उनसे सही ढंग से पेश आती तो चीनियों के खिलाफ वे हमारी सबसे बड़ी संपत्ति साबित होते। नासमझी और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से पेश आने पर वे उदासीन तो हो गए थे, फिर भी वे दुश्मन नहीं बने थे। उन्हें संभवतः उस बात की जानकारी थी कि भारत और चीन के संबंधों में बिगड़ाव आया हुआ है तथा कभी भी संघर्ष शुरू हो सकता है।

उस क्षेत्र में यदा-कदा हिन्दी-अंग्रेजी में बात करती रंग-बिरंगे परिधानों में सजी सुसंस्कृत सुंदर युवतियां आगंतुकों को आश्चर्य में डाल देती थीं। बाद के वर्षों

मे गुप्तचरी-संबंधी कार्य करने के बाद मैं जान पाया कि ये युवतियां क्या कर सकती थीं, और करती थीं। आश्चर्य है कि श्री मलिक, जिन्होंने गुप्तचरी के संबंध में काफी कुछ लिखा है, इन सुंदरियों की प्रत्यक्ष क्षमता को नहीं पहचान पाए, अन्यथा हम गुप्तचरी के क्षेत्र में इतनी बुरी स्थिति के शिकार नहीं होते। हमारे पास नागरिक और सैन्य, दोनों तरह के गुप्तचर दल थे। यही नहीं, वरिष्ठ अफसरों, जिनमें अनेक की सेवा 20 वर्ष से अधिक की थी, को अच्छी तरह समझ में आ जाना चाहिए था कि ये युवतियां क्या कर सकती थीं। हमारी सेना के विषय में चीनियों को महत्त्वपूर्ण खबरें पहुंचाने के लिए अब उन्हें दोष देने का कोई लाभ नहीं है। वे क्या कर रही थीं और उन्हें क्या करना चाहिए था, काफी स्वाभाविक था और सभी लड़ाइयों में यह पारंपरिक ढंग से होता है। कुछ अज्ञात कारणों से उनसे सही ढंग से नहीं निपटा गया हालांकि उनकी पहुंच हमारे कई अफसरों तक थी।

सुबह-शाम के नियमित व्यायाम के दौरान मैंने कुछ गांवों की भी यात्रा की। अधिकांश गावों मे लकड़ियों की झोंपड़ियां थी जो बांसों के सहारे टिकी थीं। नीचे के हिस्से को सूअर बाड़े के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। पत्थरों का इस्तेमाल बहुत कम होता था, केवल कुछ अमीर लोगों ने ही अपने घर पत्थरों के बनवाए हुए थे। झोंपड़ी के भीतर काफी साफ लकड़ी का फर्श और दूसरी आवश्यक वस्तुएं होती थीं। पुरुष, स्त्रियां और बच्चे, सभी फर्श पर सोते थे।

मोनपा लोग मुख्यतः आतिथ्यप्रेमी होते हैं। इनकी स्त्रियों के सामने पुरुषों से बातचीत करने मे कोई बाधा नहीं है, जैसाकि हम मैदानी क्षेत्रों मे पाते हैं। यह ठीक है कि यदा-कदा वहां की स्त्रियां जैतूनी हरी वर्दियों वाले लोगों से डरी हुई लगती थीं। संभवत. उन्हे हमारे सिपाहियों के साथ कोई बुरा तजुर्बा हासिल हुआ होगा। उनके लिए सलज्जता का अर्थ बिलकुल अलग है। अपने पूर्ण विकसित बड़े स्तनों से शिशुओं को दुग्धपान कराना जैसा कभी भी मैदानी क्षेत्र मे देखने को नहीं मिलता, उनके पूर्ण मातृत्व की एक सुंदर छाप छोड़ जाता है। ज्यादा ऊंचाई वाले इलाकों के निवासी शायद ही कभी नहा पाते हैं। यह मूलतः ठंडी जलवायु या स्थानीय वर्जनाओं की वजह से है। बाद मे मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ था कि नेफा की कुछ आदिम जातियों मे एक परंपरा है, जिसके अनुसार केवल बीमारों को ही नहाने की जरूरत होती है।

अन्य आदिम जातियों की तुलना में मोनपाओं का रहन-सहन ज्यादा सभ्य है।

1966 और 1967 मे अपनी पूर्वी क्षेत्र की नियुक्तियों के दौरान मेरा सामना नेफा के कुछ ऐसे आदिम जनों से भी हुआ था जो उपमार्गों के नजदीक वाले भीतरी क्षेत्रों मे रहते थे। उन उपमार्गों का इस्तेमाल हमारे राजनैतिक

अफसरों और सुरक्षा सेनाओं द्वारा किया जाता था। अर्द्धनग्न और कच्चा मांस खानेवाले ये लोग, पीने के नाम पर केवल पानी के इस्तेमाल से ही परिचित थे। इनके लिए तथाकथित विकास और उपलब्धियां या विकास-योजना कोई अर्थ नहीं रखती थीं। यह विश्वास करना वाकई मुश्किल है कि भारत में 20 वर्ष की आजादी के बाद भी राजनैतिक अफसरों की नाक तले रहन-सहन की आदिम स्थितियां विद्यमान थीं।

पूर्वी सीमावर्ती क्षेत्रों—नेफा, नागालैंड और मिज़ोरम में जिस तरह का व्यवहार हमारे नागरिक और सैनिक नौकरशाहों द्वारा किया जा रहा है, उससे वे कभी भी ठोस सुरक्षा के बुर्ज नहीं बन पाएंगे। वहां की जनता के ज्यादा से ज्यादा विद्रोही होने तथा अधिकाधिक मांगें रखने की ही संभावना है क्योंकि गलत व्यवहार से स्थानीय जनता ने यही सीखा है कि बागी बने रहने से ही ज्यादा लाभ है और इसीलिए वे विद्रोही तरीकों को जारी रख रहे हैं। देर-सवेर नेफा के आदिम जनों के भी नागालैंड और मिज़ोरम के पदचिह्नों पर ही चलने की उम्मीद है।

Rajesh Duzeja

प्रेस दल की यात्रा

अपने को पूर्णतः स्वस्थ रखने की गरज से मैं हर शाम लंबी सैर को निकलता था। लौटते समय मित्रों के साथ मैं संभागीय मुख्यालय भी जाता था। इसमें मेरा उद्देश्य ताजा जानकारी हासिल करना होता था। ऐसी ही एक शाम को मैंने संभागीय अफसरों के मेस में अनेक नागरिक देखे। ये समाचारपत्र संवाददाता थे जो अग्रवर्ती क्षेत्रों की यात्रा के उद्देश्य से नेफा आए थे। हमें पता चला कि राष्ट्रपति भी नेफा आने वाले हैं। जब मैं एक संवाददाता से बात कर रहा था तो संभागीय मुख्यालय का एक अफसर मेरे पास आया तथा मुझे एक ओर ले गया। उसने मुझे बताया कि संभागीय आदेशों के अनुसार किसीको भी इन लोगों से सैन्य कार्रवाइयों के संबंध में कोई बात नहीं करनी है। आदेशों का उल्लंघन करने वाले के खिलाफ कड़ी कार्रवाई की जाएगी। मुझे बाद में पता चला कि यह सभी वर्गों में एक दहशत बिठाने के उद्देश्य से किया गया था ताकि मुख्यालय के अफसरों में पड़ी दरार, महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठे कुछ अफसरों की मानसिकता तथा ऐसी ही अन्य सही बातों की जानकारी बाहर न पहुंच सके। वरिष्ठ अधिकारियों के रहन-सहन के ढंग, उनके खाने तथा अन्य बातों में बरती जा रही फिज़ूलखर्चियों तथा दूसरी ओर कनिष्ठ अफसरों और जवानों को आवश्यक वस्तुओं तक से वंचित रखने के बारे में कुछ युवा अफसर काफी स्पष्टवादी थे। हममें से अनेक को नेफा में नियुक्त अपने वरिष्ठ कमांडरों की नेतृत्व-क्षमता पर भरोसा नहीं था जो भ्रष्ट तरीकों और भाई-भतीजावाद से पदोन्नतियां पा गए थे। वास्तव में हमारे भू० पू० प्रधान-

मंत्री नेहरू भी आरक्षी सेनाओं के मामलों पर समाचारपत्रों और जनता के विचार-विनिमय पर पाबंदी लगाकर अपनी ही समुचित मानसिकता का शिकार बन गए थे।

इन्हीं वजहों से हम प्रेस के संवाददाताओं को वह सब नहीं बता पाए थे, जो हममें से कुछ लोग बताना चाहते थे। हालांकि कुछ संवाददाताओं ने गहराई से जवानों, कनिष्ठ अफसरों और वरिष्ठ अधिकारियों के विचारों को अलग से जानने का प्रयास किया था। मैंने एक संवाददाता से जिक्र किया था कि अच्छे कमांडरों के सामने चीनियों का टिकना काफी मुश्किल होगा। यही बात पाकिस्तानियों के लिए भी लागू होती थी, जैसाकि 1965 और 1971 की लड़ाइयों के दौरान देखा गया था। मुझे कनिष्ठ अफसरों की वे बातें सुनाई पड़ रही थीं जिनमें वे जन० हरबक्श सिंह की प्रशंसा और जन० कौल की निंदा कर रहे थे, जबकि उन्हें दोनों में से किसीकी भी सामर्थ्य की जानकारी नहीं थी। यह बड़ी गलत बात थी, क्योंकि हममें से अधिकांश ने जन० कौल के विषय में सिर्फ सुना भर था, उनकी क्षमता के विषय में नहीं जानते थे, क्योंकि उन्हें कभी सैन्य संचालन करते नहीं देखा था। कुछ भी हो, यदि सेना के मामलों पर नागरिकों और प्रेस से बात न करने की प्रथा है, तो थल सेना में यह भी एक कायदा है कि किसीकी निंदा और दूसरे की स्तुति न की जाए, क्योंकि इससे और कुछ नहीं, केवल अधिप्रचार ही होता है। असल में कुछ स्वार्थी तत्वों द्वारा यह अधिप्रचार ही अनुप्राणित किया जा रहा था—जहां एक उच्चतर फील्ड कमांडर के रूप में जन० कौल की विश्वसनीयता संदेहास्पद थी, वहां अन्य उच्च कमांडरों के मामले भी कोई ज्यादा भिन्न नहीं थे। यह सच है कि हमारी थल सेना में चंद ऐसे उच्च कमांडर भी हैं जो किसी भी आधुनिक सेना के कमांडरों से मुकाबला कर सकते हैं। लेकिन वे केवल थल सेना की चहारदीवारी में ही जाने जाते हैं क्योंकि वे कभी भी इसके लिए उपयुक्त स्थान तक अपनी पहुंच बनाने की कोशिश नहीं करते। आरक्षी सेनाओं को समझने, उनके काम-काज और उच्च कमान की सही योग्यताओं की पड़ताल की आवश्यकता पर ज्यादा बल देने की जरूरत नहीं है।

अध्याय 5

निर्णायक शाम

"वे लोग मूर्ख हैं, जो दुश्मन को आंख, हाथ या हथियारों के बजाय पीठ दिखाकर युद्ध में विजय पाने की कामना करते हैं।" —जेनोफॉन

तैयारियां

14 नवम्बर, 1962 को राजपूत बटालियन के 'ज़ोजिला दिवस' मनाने के बाद गश्तों की गति तेज़ करने तथा चीनी गतिविधियों के बारे में कुछ ज्यादा जानकारी हासिल करने की ज़रूरत महसूस की गई। हमें ब्रिगेड मुख्यालय पर मिलने वाली गुप्तचरी की ज़्यादातर रपटें फालतू ही होती थीं। एक रपट थी कि याकों के साथ एक हज़ार चीनियों के एक मज़बूत दस्ते ने उत्तरी दिशा से सेला पोज़ीशन पर धावा बोल दिया है। एक अन्य रपट थी कि कुछ चीनी सैनिक बोमडिला की दिशा में पोशिंगला के रास्ते उपमार्गों की बगल में इकट्ठा हो रहे हैं।

उस समय कामेंग डिविज़न में बड़ी संख्या में आसाम राइफल्स की चौकियां थीं, जिनकी संचार-व्यवस्था काफी हद तक अच्छी थी। इन चौकियों से चीनी गतिविधियों के बारे में आसानी से जानकारी मिलनी चाहिए थी, जिसकी मदद से एक सामरिक तस्वीर बन सकती थी। पर दुर्भाग्य से थल सेना और आसाम राइफल्स के कर्मचारियों के बीच पटती नहीं थी। इसका कारण था दोनों ही ओर के उच्चाधिकारियों के बीच आपसी मतभेद होना, जो निचले वर्गों तक फैल रहे थे। वैसे ये मतभेद अभी तक विद्यमान हैं। विभिन्न समझौतों पर सेना, समानांतर आरक्षी दल और नागरिक तंत्र के बीच छोटे-छोटे झगड़े जो 1962 में नज़र आए थे, आज भी जारी हैं, बल्कि बड़े स्तर पर हो रहे हैं। उस समय, जबकि आरक्षी दलों की शक्तियां आपस में मिलनी चाहिए तथा उन्हें एक-दूसरे के साथ परस्पर सद्भावना से कार्य करना चाहिए, आपसी झगड़ों में फंसकर वे क्षीण हो रही हैं।

गुप्तचरी ब्यूरो तथा थल सेना के आपसी मतभेदों का कौल, दलवी, मलिक और अन्य लेखकों ने अच्छा उल्लेख किया है। मैंने यह मिज़ोरम, नेफा और नागा-

लैंड में न्यूनाधिक रूप में घटित होते देखा है। इससे सैन्य सामर्थ्य पर बुरा असर पड़ता था और मैदानी क्षेत्र के लोगों के प्रति आदिम जनों में गुस्सा, विरोध तथा नापसंदगी पैदा होती थी। वह दिन ज्यादा दूर नहीं है जब हमें नेफा में भी बागी-समस्या से जूझना पड़ेगा, क्योंकि इस क्षेत्र के आदिम लोग अपनी सामरिक स्थिति के महत्त्व को समझने लगे हैं। हमारे नागरिक और सैनिक उच्चाधिकारियों की उनके प्रति निष्ठा और दिलचस्पी की कमी से भी वे परिचित हो रहे हैं। स्वार्थी राजनीतिज्ञ, जिनमें भीतरी और बाहरी दोनों शामिल हैं, उनमें मनमुटाव बढ़ा रहे हैं। विदेशी गुप्तचर एजेंसियां भी भारत के लिए विकट स्थिति उत्पन्न करने के लिए इसका मनमाना लाभ उठाती हैं। मिजोरम की बागी-समस्या से निपटने के लिए नियुक्त एक वरिष्ठ गुप्तचर अधिकारी की हैसियत से मैंने स्वयं इस स्थिति को वहां अनुभव किया था। इसकी पूरी जानकारी सेना और नागरिक प्रशासन के उच्चाधिकारियों को है। मुझे डर है कि नेफा, मिजोरम और नागालैंड के मामलों की सही तस्वीर अभी तक सामने नहीं आ सकी है। यह अंग्रेजों द्वारा चलाई गई उस नीति की वजह से है, जिसके अंतर्गत सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य लोगों के वहां जाने पर रोक लगी थी तथा भारतीयों को स्थानीय जनता द्वारा विदेशी समझा जाता था।

14-15 नवम्बर तक हमारे गश्ती दलों द्वारा कम से कम कामेंग क्षेत्र में चीनियों की क्षमता और गतिविधियों की सही तस्वीर पेश कर दी जानी चाहिए थी। इस असफलता के लिए हमारे उच्च कमांडर नागरिक गुप्तचरी ब्यूरो को दोष नहीं दे सकते, जैसाकि कौल और अन्य लोगों द्वारा किया गया। मैंने उन अनेक इन्फेंट्री कंपनी कमांडरों और जूनियर अफसरों से बात की थी, जिन्हें गश्त पर भेजा जाता था। उनमें अक्सर अपने वरिष्ठ अफसरों तथा उनके उद्देश्यों और मंसूबों के प्रति विश्वास की कमी नजर आई। कभी-कभी उन्हें बिना कोई स्पष्ट निर्देश दिए तथा सही उपकरणों के बिना ही गश्त पर भेज दिया जाता था। कभी-कभी इसके माध्यम से सेना के रंग-ढंग के प्रति मुंहफट किसी जूनियर अफसर को दंडित किया जाता था। जब तक संभागीय मुख्यालय का परिचालन स्टाफ गश्त लगाने के कार्य को नियोजित करने में दिलचस्पी नहीं लेता, हमें सही स्थिति का पता नहीं चल सकता था। संभागीय मुख्यालय द्वारा इस तरह के समन्वयन का अभाव युद्ध के एक प्राथमिक कार्य को भी व्यर्थ बनाकर छोड़ देता था। इस तरह की घटनाएं सेना में और बाहर तरह-तरह की अफवाहें फैलने और स्वार्थी गुप्तचर तत्त्वों के शोषण के लिए अच्छा आधार होती हैं।

16 नवम्बर, 1962 से घटनाएं तेज गति से घटने लगीं। 17 नवम्बर को दोपहर बाद 6 फील्ड रैजीमेंट के कमांडर लेफ्टि० कर्नल उथप्पा मेरे पास आए तथा तोपें ले जाने के लिए कुछ पावर वैगनों की मांग की। उन्होंने बताया कि

चीनी हमले की वजह से उन्हें तुरंत प्रस्थान करना है। मुझे यह सुनकर वड़ा अचम्भा हुआ क्योंकि हमारे क्षेत्र में, उनके गश्ती दलों के अलावा, कहीं चीनियों का समाचार नहीं था। मैंने मेजर मलाया, कार्यवाहक कमांडर ई० एम० ई० से पावर वैगन प्राप्त करने की कोशिश की, क्योंकि ब्रिगेड में वैगन उपलब्ध नहीं थे। वैगन उनके पास भी नहीं थे। अतः मैंने कर्नल उथप्पा से कहा कि वह संभागीय मुख्यालय पर 'कमांडर आर्टिलरी' से पर्याप्त वैगन ले लें, उसके वाद मैं और मेजर मलाया संभागीय मुख्यालय गए। सामरिक स्थिति की जानकारी लेने के लिए मैं रोज़ाना सुवह-शाम संभागीय मुख्यालय जाया करता था।

चीनी फौजों के मुकावले भारतीय सैनिक

चीनियों की गतिविधियों की खवरें मिल रही थीं। उनकी तादाद कोई चौंकाने वाली नहीं थी (दोनों सेनाओं की तुलनात्मक शक्ति की विस्तृत जानकारी के लिए देखें परिशिष्ट 'ग')। किसी भी स्थिति में, आक्रामक सैन्य चालों में सफलता पाने के लिए कम से कम मैदानी क्षेत्र में एक के मुकावले तीन तथा पहाड़ी क्षेत्रों में एक के मुकावले पांच की श्रेष्ठता होनी चाहिए, वह भी तव, जवकि दोनों ओर का नेतृत्व एक जैसा हो। अतः चीनियों को सेला, डिरांग ज़ोंग तथा वोमडिला में तैनात हमारी तीन ब्रिगेडों पर प्रभावी और सफल आक्रमण करने के लिए कम से कम एक लाख सैनिकों की ज़रूरत होती। दोनों ओर के लिए लाभ और हानियां इस प्रकार थीं :

हम लोग अपनी ही जमीन पर स्वयं चुने गए क्षेत्रों में लड़ रहे थे। मुख्यतः हम खाइयों में पोज़ीशन लिए हुए थे तथा प्रतिरक्षात्मक स्थिति में थे। युद्ध की प्रतिरक्षात्मक कार्रवाई हमेशा आक्रामक कार्रवाई से, खासकर पहाड़ी क्षेत्र में, आसान होती है तया नुकसान भी इसमें कम से कम होते हैं। आक्रामक कार्रवाइयों में, विशेपकर एक ऐसी सेना के खिलाफ जो वंकरों और खाइयों में पोजीशन लिए हुए हो, नुकसान ज़्यादा से ज़्यादा होते हैं।

हमारे पास हल्के टैंक, तोपखाना (भारी मार्टर और 25-पौंड की तोपें) और भारी मात्रा में गोला-वारूद के साथ मंझली मशीनगनें थीं, जवकि दुश्मन की अग्नि शक्ति हमसे काफी कमज़ोर थी। चीनी मुश्किल से केवल हल्के और सीमित हथियार ही ला सके थे। उनके पास गोला-वारूद भी सीमित मात्रा में था जिसके चुक जाने के वाद फिर से प्राप्त करना अत्यंत कठिन था।

भारतीय सेनाएं वाहनों और हवाई मार्ग से प्राप्त रसद के सहारे टिकी थीं। जवकि चीनी सेनाएं पूरी तरह सामान को खुद उठाए चलती थीं। चीनियों के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिए उन्हीं कमांडरों और वटालियनों को नियुक्त किया गया था जिनकी पूर्व परंपरा और पृष्ठभूमि लड़ाका वर्गों से जुड़ी थी।

हमारे पास दो सप्ताह तक चल सकने योग्य पर्याप्त राशन और गोला-बारूद था। हमारे अधिकांश सैनिक अक्तूबर, 1962 में ही भेजे जा चुके थे, अतः जाने-माने मापकों के अनुसार, उन्हें युद्ध को शारीरिक दृष्टि से ठीक रखने तथा श्रेष्ठ प्रतिरक्षात्मक कार्रवाई की तैयारी करने का पूरा समय मिला था।

हमारे पास निश्चय ही पर्याप्त गर्म कपड़ों की कमी थी। विशेषकर, सेला में तैनात सैनिकों के लिए पर्याप्त बर्फ-बचाव वस्त्र नहीं थे। पर उस समय हमारे पास 5 लाख सैनिकों की मजबूत सेना थी। यदि यह माना जाए कि हमारी सेना के चार लाख सिपाहियों के पास पर्याप्त वस्त्र और हथियार थे, तो नेफा में तैनात 20 हजार सैनिकों को कपड़ों और हथियारों से पूर्णतः और प्रभावी ढंग से सुसज्जित करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए थी। हालांकि नेफा की सर्दी इतनी भयंकर नहीं होती जितनी उत्तरी भारत में होती है, और इन्हीं सिपाहियों ने इससे भी कम कपड़ों और उपकरणों से कश्मीर में युद्ध लड़ा था। लेकिन हमारे अधिकांश वरिष्ठ और कनिष्ठ अफसर, जिनके पास पर्याप्त गर्म कपड़े थे, अब वहां के ठंडे मौसम की बात करते हैं, जो नवंबर के आरंभ तक तो ढंग से शुरू भी नहीं हुआ था।

संभागीय मुख्यालय की घबराहट

जब मैं मेजर मलाया के साथ संभागीय मुख्यालय पहुंचा तो चारों तरफ एक घबराहट फैली थी। मैं 7 कैवलरी के स्क्वैड्रन कमांडर मेजर जमवाल से मिला। वह स्वयं परिचालन कक्ष में बैठे थे। उनके सात टैंक संभागीय मुख्यालय क्षेत्र में स्थित थे। जनरल आफिसर कमांडिंग के दफ्तर के बाहर अनेक अफसर इकट्ठा थे। वे हमारी संचार सीमा पर चीनियों की घुसपैठ के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे। मैंने मेजर जमवाल से बात की। वह इस बात से सहमत थे कि आरमर्ड स्क्वैड्रन कमांडर के रूप में अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का उनके लिए यह अच्छा मौका है। मैंने उन्हें सुझाव दिया कि वह जनरल के पास जाकर उन्हें टैंकों की उपयोगिता के बारे में बताएं। मैं एक बार पहले भी उनसे तथा जनरल स्टाफ अफसर-2 (परिचालन), जोकि स्वयं एक आरमर्ड कोर अफसर थे, से इस पहलू पर विचार-विमर्श कर चुका था। उन्होंने भी इस बात पर जोर देकर कहा था कि ये टैंक संभागीय मुख्यालय के आसपास वाले क्षेत्र में घुस आने वाले चीनियों की अच्छी खबर ले सकते हैं। इन अफसरों के गरजने से मैं प्रभावित नहीं था। जब मौका आया तो यही अफसर उचित सिपाहियाना व्यवहार नहीं कर पाए। मेरे सुझाव पर मेजर जमवाल कोई ज्यादा उत्साहित नहीं नजर आए। संभवतः वह यह चाहते थे कि संभागीय विभाग से कोई उन्हें कुछ करने के लिए उकसाए। मैं संभागीय दफ्तरों के मेस में पहुंचा। यहां मुझे दो गैर-सैनिक व्यक्ति मिले। इनमें एक

श्री जोशी तथा दूसरे नेफा प्रशासन में चिकित्सक थे। उन्होंने हमें बताया कि बोमडिला से लौटने में उस शाम उन्हें कोई दिक्कत नहीं हुई थी। इन दोनों को हम जी० ओ० सी० के पास ले गए। इसमें हमारा उद्देश्य जनरल स्टाफ का विश्वास जमाना और उसे बोमडिला-डिरांग सड़क की नवीनतम स्थिति की जानकारी देना था।

संभागीय कमांडर के कार्यालय के बाहर अनेक वरिष्ठ और कुछ कनिष्ठ अफसरों की भीड़ जमा हो गई थी। वे सब कमांडर का निर्णय जानने को बेताब थे। वहां का शोरगुल किसी मेले की याद दिलाता था। कमांडर के निर्णय पर ही सब कुछ निर्भर था। उपस्थित लोगों में ब्रिगे० गुरबक्शसिंह गिल, कमांडर तोपखाना, ब्रिगे० माइकेल चटर्जी, कमांडर 67 इन्फेंट्री ब्रिगेड (जो स्वयं कुछ समय पूर्व संभागीय मुख्यालय पहुंचे थे, लेकिन उनकी ब्रिगेड अभी पहुंचनी बाकी थी), ब्रिगे० चीमा, कमांडर 65 इन्फेंट्री ब्रिगेड तथा डिविज़न में सैन्य संचालन के दो जिम्मेदार पदों पर नियुक्त उनके जनरल स्टाफ अफसर-2, ले० कर्नल टी० बी० नंदा, कमांडर इंजीनियर्स और सिगनल्स के नये कमांडर ले० कर्नल सोधी, शामिल थे। ले० कर्नल शमशेरसिंह, ए० ए० और क्यू० एम० जी०, जो डिविज़न के वरिष्ठ लाजिस्टिक्स अफसर थे, वहां उपस्थित नहीं थे। वह चतुर अफसर पहले ही जीप पर सवार होकर संभागीय मुख्यालय से मैदानी क्षेत्र के लिए प्रस्थान कर चुका था। शायद उसे मालूम था कि डिविज़न कोई युद्ध लड़ने वाली नहीं है, अतः वह आसान रास्ते से (उस लम्बे रास्ते को छोड़कर जो उसके साथियों को बाद में तय करना पड़ा था) चलता बना। मेजर उम्मत जी० एस० ओ०-2 (स्टाफ ड्यूटी, बाद में ब्रिगेडियर) भी काफी समय रहते मैदानी क्षेत्र पहुंच गए थे जबकि उनका ठिकाना अग्रवर्ती क्षेत्रों में होना चाहिए था। उन्होंने मुझे बाद में बताया था कि मैदानी इलाके में पिछले संभागीय मुख्यालय पहुंचने पर वह कर्नल शमशेरसिंह से मिले थे। मेजर उम्मत से मेरी पुनः बात हुई थी। उन्होंने बताया था कि वह फिर से पैदल चलकर रास्ता पूरा नहीं करना चाहते थे क्योंकि ढोला में सातवीं ब्रिगेड की हार के बाद एक बार वह ऐसा कर चुके थे। उन्हें मालूम था कि आगे क्या होने वाला है, क्योंकि वह जी० एस० ओ०-1 को अच्छी तरह जानते थे। मुझे और लोगों से पता चला कि जी० एस० ओ०-2 भी निकल भागना चाहते थे, लेकिन मेजर उम्मत ने उनकी कड़ी खिंचाई की थी।

मैंने थोड़ा सिपाहियाना दिखने वाले एक ब्रिगेडियर को मनाने की कोशिश की कि वह जी० ओ० सी० से मेजर जमवाल को लेने की कोशिश करें क्योंकि हमारे चारों ओर से कट जाने पर, जैसाकि लग रहा था, वह एक बड़ी भूमिका निभा सकते हैं। मुझे पता नहीं था कि उस घबराहट के वातावरण में वह ब्रिगेडियर जनरल से बात कर पाएंगे।

चीनियों ने बोमडिला-डिरांग जोंग सड़क पर मुन्ना कैंप के पास एक मार्ग-अवरोध खड़ा कर दिया था। यह स्थान डिरांग जोंग गांव से जरा आगे था तथा इसपर पहले सीमा-सड़क दल का कब्जा था। मार्गावरोध ने संभागीय मुख्यालय में एक काफी तनावपूर्ण वातावरण पैदा कर दिया था और यह निर्णय लेना काफी जरूरी था कि स्थिति से कैसे निपटा जाए। हालांकि अपने ब्रिगेड कमांडर की सैनिक योग्यताओं पर मुझे कोई ज्यादा भरोसा नहीं था, पर फिर भी मैंने उन्हें अमेरिकी राइफलों के बारे में बताया और कहा कि वे उन्हें जारी करवा लें। वह शायद अच्छे मूड में नहीं थे, अतः मेरे सुझाव से काफी नाराज प्रतीत हुए। वास्तव में वहां उपस्थित अधिकांश वरिष्ठ अफसरों के चेहरों पर एक अजीब-सी उदासी और विषाद के चिह्न देखे जा सकते थे। दूसरी ओर संभागीय मुख्यालय के युवा अफसर स्फूर्ति से भरे तथा युद्ध के लिए तैयार नजर आते थे।

जनरल आफीसर कमांडिंग का कमरा वरिष्ठ अफसरों से भरा था। यदा-कदा अफसर गण ताजी हवा के लिए बाहर भी आते रहते थे। जनरल स्वयं कई बार बाहर आए। मुझे डर था कि वह चीन की आक्रामक कार्रवाई से शायद शांति, संयम और सुव्यवस्थित ढंग से नहीं निपट रहे थे। तभी किसी ने सुझाव दिया कि यदि शीघ्र वहां से निकला नहीं गया तो संभागीय मुख्यालय चीनियों के चंगुल में होगा। कुछ स्वार्थी स्टाफ अफसरों द्वारा तोपखाना सलाहकार ब्रिगेड गुरबक्शसिंह को एक लड़ाका सिपाही के रूप में प्रतिष्ठित किया जा रहा था पर ब्रिगेडियर सिंह के चेहरे से भी विषाद और उदासी ही टपक रही थी। मैं यह विश्वास के साथ कह सकता था कि इस दृश्य को देखने वाले अधिकांश कनिष्ठ अफसर महसूस कर रहे थे कि वरिष्ठ अफसर अपेक्षित रुख नहीं अपना रहे हैं। एक भी वरिष्ठ अफसर लड़ाई की बात नहीं करता था जबकि पहले उनमें से कई लोग इसकी चर्चा कर चुके थे। इस समय वे सभी जी० एम० ओ० से सहमत लगते थे, जो काफी उत्तेजित दिखते थे तथा जल्दी से जल्दी वहां से निकल भागने को तैयार थे।

मेरी पूछताछ के दौरान जनरल ने दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय के लिए जी० एम० ओ० को दोषी ठहराया, जिसके कारण भारतीय थल सेना की सबसे अच्छी लड़ाका डिविजन अपयश और कलंक की शिकार हो गई थी। पर किसी भी स्थिति में संभागीय कमांडर को दोषमुक्त नहीं किया जा सकता था। यदि उन्हें कायरता या भितरघात की आशंका थी, तो जी० एम० ओ०-1 का कोर्ट मार्शल करने का भी उन्हें अधिकार प्राप्त था। कुछ भी हो, भितरघात या कयामत का वातावरण स्वार्थी तत्वों द्वारा काफी चतुराई और गोपनीयता से तैयार किया गया था। कोई अज्ञात व्यक्ति वरिष्ठ अफसरों की युद्धेच्छा को खत्म करने की कोशिश कर रहा था, जो अनजाने ही उसके शिकार हो रहे थे।

संभागीय मुख्यालय में यह तमाशा एक घंटे से ज्यादा समय तक चलता

था। मुझे विश्वास था कि जनरल अब थक चुके हैं। समाधान बड़ा साफ था। उन्हें सिर्फ इतना कहना था, "हम युद्ध करेंगे, हमें तुरन्त खाइयों में पोजीशन लेनी है, मराठा बटालियन पहाड़ों की चोटियों तथा ढलानों पर उचित पोजीशन लेगी, कुछ दिशाओं से दुश्मन की पहुंच रोकने के लिए टैंकों को तैनात किया जाएगा, चीनियों को व्यस्त रखने तथा उनपर नजर रखते हुए उपलब्ध फील्ड गनों (तोपों) को लगा दिया जाए जो उनके विध्वंस का कारण बन सकें," यह कोई नई बात नहीं थी। बर्मा में लड़ चुके डिविजन अफसर इस रणनीति से भली भांति परिचित थे। यदि जनरल पठानिया ने उस समय लड़ाई लड़ने का निर्णय ले लिया होता और अपने मातहत अफसरों को उसे तुरन्त कार्यान्वित करने का आदेश दिया होता तो भारतीय थल सेना का इतिहास आज दूसरे ढंग से लिखा जाता। जरूरत पड़ने पर, वे भागने को तैयार एक-दो वरिष्ठ अफसरों के कोर्ट मार्शल का आदेश दे सकते थे, क्योंकि उन अफसरों का यह कार्य पूरी तरह देश से गद्दारी करना था। उनके इस कार्य ने अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा को शून्य तक पहुंचा दिया था जैसाकि दलवी से जन० चौधरी ने कहा था, "हम यहां तक कि···और···जैसे देशों के लिए भी उपहास के पात्र बन गए, जिनका नाम लेने में भी मुझे हिचक होती है।"

17 नवम्बर, 1962 को शाम आठ बजे तक भी कोई निर्णय नहीं किया गया। जनरल आफीसर कमांडिंग ने किसीको भी अपने मन की बात नहीं बताई। मेजर मलाया के साथ मैं भोजन के लिए संभागीय अफसरों के मेस में चला गया। हमें पता चला कि एक मद्रास कंपनी तथा दो डोगरा कंपनियों के मार्गविरोध हटाने के लिए भेजा गया है। लेकिन रात के समय ऐसी कार्रवाई का कोई अर्थ नहीं था, क्योंकि दुश्मन के गश्ती दलों की सही पोजीशनों का हमारे सैनिकों को पता नहीं चल सकता था। यह नीति वैसे भी सैन्य सिद्धांतों के प्रतिकूल थी। किसने और क्यों ऐसी गैर-पेशेवर कार्रवाई का आदेश दिया? इस कार्रवाई से चीनियों के हित में हमारी सेनाओं को जानबूझकर खत्म किया जा रहा था।

हमें मेस में पता चला कि संभागीय कमांडर और उनके जी० एस० ओ०-1 62 इन्फेंट्री ब्रिगेड को सेला से पीछे हटाने की कोशिश कर रहे हैं। इस आशय के आदेश ब्रिगेडियर होशियारसिंह को भेजे जा चुके थे। शायद संभागीय मुख्यालय का बचाव करने के उद्देश्य से ऐसा आदेश दिया गया था। क्योंकि इसके इर्द-गिर्द केवल एक बटालियन मौजूद थी। ब्रिगेड कमांडर के इस अनुरोध पर संभवतः कोई ध्यान नहीं दिया गया कि उसकी सेनाओं पर पीछे से हमला हो रहा है तथा उसके लिए सर्वश्रेष्ठ कदम यही होगा कि पूरी तैयारी के साथ प्रतिरक्षात्मक पोजीशनों पर डटे रहा जाए और चीनियों के आक्रमण का

बलपूर्वक सामना किया जाए। सेना के पैदल सिपाही दो सप्ताह तक लड़ने लायक पर्याप्त गोला बारूद और रसद से लैस थी। बाद में विश्वस्त सूत्रों से मुझे मालूम हुआ कि डिरांग जोन की तरह सेला में भी सैन्य-परिचालन कमांडर को कुछ अफसरों द्वारा तितर भागने के लिए भड़काया जा रहा था। मैंने स्वयं इन अफसरों को अपने कमांडर को प्रेरित करते नहीं देखा, इसलिए मैं उनका नाम नहीं ले सकता। लेकिन डिरांग में मैंने असली कायरों को अपनी आंखों से देखा था।

जब कभी किसी सेना की संचार-व्यवस्था टूट जाती है तो कुछ घबराहट अवश्य होती है। लेकिन बर्मा की लड़ाई में बड़ी तादाद में अफसरों और जवानों ने ऐसी स्थिति में उचित कार्रवाई की थी। मार्गावरोध से निपटने के लिए एक टुकड़ी तैनात कर, वे सभी अपनी-अपनी चौकियों पर डटे रहे और इस बात का ध्यान रखा कि मुख्य संचार लाइन (जिसपर उन्होंने अपने प्रतिरक्षी बंकर स्थापित किए हुए थे) को दुश्मन की कोई बड़ी फौज इस्तेमाल न कर सके। बर्मा की 'बैटल ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव बॉक्स' लड़ाई को स्टाफ कालेज में पढ़ाया गया था। वह समस्या तथा चीनी सेनाओं द्वारा उत्पन्न की गई समस्या एक समान थी। जैसाकि कुछ लेखकों ने स्पष्ट किया है, उसके लिए किसी विशेष समर नीति की जरूरत नहीं थी। वहां उपस्थित अनेक अफसर विकल्पों के प्रति अपने दिमाग में पूरी तरह संदेहरहित थे, अर्थात् प्रतिरक्षात्मक पोजीशन लेना, मार्गावरोध दूर करने के लिए किसी ऊंचे ठिकाने पर बैठना तथा चीनियों के हमले की प्रतीक्षा करना, या जैसे ही वे मार्गावरोध का इस्तेमाल करने की कोशिश करते, उन्हें हल्के टैंकों, तोपखाने और मंझली मशीनगनों से भून डालना।

कामेंग डिविजन के कमांडरों को सेला-बोमडिला जैसी साधारण लड़ाइयों को लड़ने के लिए किसी आधुनिक समर नीति या युद्ध विज्ञान को ज्यादा जानने की जरूरत नहीं थी। सैकड़ों वर्ष पहले महान मराठा नेता शिवाजी ने आधारिक रणनीति से सफलतापूर्वक प्रबल ठिकानों पर कब्जा कर, अपने से कहीं बड़ी मुगल सेना को नाकों चने चबवा दिए थे। सामरिक दृष्टि से बेहतर ठिकानों पर तैनात अपनी छोटी सेना की मदद से उसने औरंगजेब की अपेक्षाकृत बड़ी सेनाओं की धज्जियां उड़ाई थीं। यदि भारतीय शीर्षस्थ अफसरों ने स्कूल के दिनों में पढ़ाए गए इतिहास को ही याद कर लिया होता तो भारत-चीन युद्ध का लेखा-जोखा और ही ढंग से लिखा जाता। सेला-बोमडिला क्षेत्र में हमारी फौजें संख्या और अग्निशक्ति की दृष्टि से बेहतर थीं और श्रेष्ठतम ऊंचाई पर होने के कारण विजय उनकी मुट्ठी में थी। लेकिन कुछ अज्ञात कारणों से उन्हें अपनी लाभकारी पोजीशनों को छोड़ने पर विवश होना पड़ा और फलस्वरूप उनपर एक बेमिसाल पराजय थोप दी गई।

किसी भी सैन्य समस्या पर काबू पाने के लिए एक सहज बुद्धि से सामरिक

दांव-पेचों का सहारा लिया जाता है। आखिर चीनी सिपाहियों को 150 किलोमीटर बीहड़ मार्ग से पैदल चलकर हमारे ठिकानों तक पहुंचना पड़ा था। हमारे पास उपयुक्त खाइयां तैयार थीं, जिनमें पोजीशन लेकर हम हमलावर फौज से निपट सकते थे। इन परिस्थितियों में हमलावर फौज की पराजय और उसके नष्ट होने में कोई संदेह नहीं हो सकता था। हमारी फौजों के पास पर्याप्त गोला-बारूद और रसद थी। लेकिन इसके बावजूद 17 नवम्बर, 1962 की शाम को अपने जनरल स्टाफ की प्रेरणा से एक मेजर जनरल द्वारा निर्णय न लिए जाने के कारण कामेंग डिविज़न का लगभग 20,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र अगली सुबह कुछ घंटों के भीतर हमसे छिन गया। यही नहीं भारतीय थल सेना और हमारे देश की प्रतिष्ठा एक इन्फेंट्री डिविज़न के जी० ओ० सी० के निर्णय के साथ काफी अनुचित ढंग से संबद्ध होकर रह गई। उसने ऐसा क्यों किया, यह एक रहस्य है, जिसका मैंने अगले अध्यायों में पर्दाफाश करने का प्रयास किया है।

अध्याय 6

वह अशुभ सुबह

युद्ध लड़ने से उतना नुकसान नहीं होता, जितना उससे भागने में होता है।

ब्रिगेडियर का पलायन

असली दुखद कथा 18 नवम्बर, 1962 से आरम्भ होती है। उस दिन काफी सवेरे मैंने ब्रिगेड मेजर बाडके (बाद में ब्रिगेडियर) से टेलीफोन पर नवीनतम स्थिति के बारे में पूछताछ की। पिछली रात अपने ब्रिगेड मुख्यालय लौटने तक मुझे यही जानकारी थी कि सभागीय मुख्यालय में वातावरण भ्रमपूर्ण बना हुआ है। ब्रिगेडियर चीमा तड़के ही सभागीय मुख्यालय चले गए थे तथा अभी तक वापस नहीं लौटे थे। दरअसल मैं चीनियों द्वारा मुन्ना कैंप के निकट बनाए गए मार्गावरोध के बारे में और ज्यादा जानने को उत्सुक था। टैंकों के साथ कुछ पैदल दस्ते अवरोध हटाने को भेजे गए थे। बाडके को स्थिति के विषय में कोई ज्यादा जानकारी नहीं थी। कुछ समय बाद मैंने उन्हें कमांडर की बंकर के बाहर ब्रिग० चीमा से बातचीत करते देखा। मुझे नहीं मालूम उनमें क्या गुफ्तगू हुई, पर मैंने बातचीत के कई विवरण सुने थे। लेकिन थोड़ी देर बाद ही मैंने ब्रिग० चीमा को बिलकुल अजीब तरह से चिल्लाते हुए सुना—'मांडला', 'मांडला', 'भागो', 'भागो'—अपने हाथों को हिला-हिलाकर वह यह कह रहे थे। वह काफी उत्तेजित दीख रहे थे। तभी वह जीप में सवार होकर चल दिए। मुझे चारों ओर अचानक उत्तेजना नजर आई। कुछ देर बाद कुछ और लोग भी जाने लगे।

उस सुबह मैं कमांडर से नहीं मिल सका, क्योंकि वह जा चुके थे। उस दिन उनके जाने से पहले कोई बैठक भी नहीं हुई, जबकि बैठक का होना एक सामान्य बात थी। मैं अपने तंबू में गया तथा जरूरी उपकरण और पिस्तौल लेकर बाहर आ गया। मैंने देखा, मेजर बाडके वहां एकत्र कुछ लोगों से बात कर रहे थे। अचानक ही वहां घबराहट का वातावरण पैदा हो गया था। थोड़ी देर पहले ब्रि मेजर शिविर कर्मचारियों से बातचीत कर रहे थे, लेकिन अब हर व्यक्ति हड़

में झरने के पार निकटवर्ती फील्ड एंबुलेंस क्षेत्र की ओर भागने लगा। मैंने चिल्ला-कर उन्हें रोकने की कोशिश की, क्योंकि ऐसे मौकों पर इस तरह भागने से भ्रम और आतंक पैदा हो जाता है। कुछ लोग रुक गए, पर बाकी लोगों ने भागना जारी रखा। सैनिकों में तमाम तरह की अफवाहें फैली थीं।

नायक कुंवर बहादुर, जिन्होंने मुझे चिल्लाते हुए सुना था, मेरे पास आए और बताया कि हमारे कुछ सिपाहियों ने गोलियां चलाई हैं। इस भ्रमपूर्ण वाता-वरण में मैंने केवल एक या दो चक्कर गोलियों की आवाज सुनी थी। तभी अचा-नक ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसीने झरने के पास धुएं के बम में आग लगा दी हो। इससे भ्रम और आतंक और बढ़ गया। मैंने एक पोजीशन ली और सभी ओर देखा। नायक कुंवर बहादुर ने भी मेरे पास पोजीशन ली। आसपास कहीं भी कोई चीनी नहीं हो सकता था, क्योंकि एक तरफ मराठा बटालियन के सिपाही थे तथा दूसरा ओर हमारे अपने सैनिक (चिकित्सा सैनिक) थे। इस समय तक यह भाग-दौड़ पूरा जोर पकड़ चुकी थी। जल्दी ही मैंने देखा कि उस खुली जगह पर अब एक भी सिपाही नहीं था, जबकि कुछ ही मिनट पहले वहां पचास से अधिक लोग थे। संभवतः ब्रिगेडियर के 'भागो' चिल्लाते ही किसीने भागो-भागो चिल्लाना शुरू कर दिया था।

एक समूचा ब्रिगेड मुख्यालय, जो तीन हजार सैनिकों की सैन्य कारंवाइयों को संचालित करता था, कुछ ही मिनटों में विघटित हो गया। उसके कमांडर और ब्रिगेड मेजर शेष सैनिकों को अपनी रक्षा आप करने के लिए छोड़कर भाग चुके थे। सभी बेतार यंत्र, टेलीफोन तथा प्रमुख युद्ध-संचालन उपकरण जैसे दूर-बीनें और दिशामापी यंत्र बिलकुल सही हालत में छोड़ दिए गए थे। जहां तक नजर जाती थी, कहीं एक भी चीनी सिपाही दिखाई नहीं पड़ता था। न ही वहां कोई चीनी अस्त्र था, जिससे गोली छूटी हो। यह सब कैसे हुआ, आज भी रहस्य बना हुआ है। हालांकि बाद के वर्षों में गुप्तचर विभाग में एक वरिष्ठ पद पर रहते हुए मुझे यह मानने के पर्याप्त ठोस कारण मिले कि यह भीतरघात का मामला था, जिसे हमारी फौज में घुसपैठ करके बड़ी चतुराई से नियोजित किया गया था। उस अत्यंत सक्षम गुप्तचरी एजेंसी की तारीफ करनी पड़ेगी, जिसने संभवतः वह सफल भितरघात नियोजित की और देश को भ्रम में डाल दिया। बाद में मुझे पता चला कि जैसे ही ब्रिगेडियर ने कमांडर को संभागीय मुख्यालय छोड़ते देखा, उसने एक अच्छे सिपाही की तरह कमांडर का अनुसरण किया। मैंने देखा था कि अपने ड्राइवर की सलाह पर ब्रिगेडियर चंद मिनटों के लिए केवल ब्रिगेड मेजर को यह निर्देश देने के लिए लौटे थे कि वह मांडला की ओर भागें।

संभागीय मुख्यालय की स्थिति

जहां तक संभागीय मुख्यालय का संबंध है, 18 नवंबर, 1962 को तड़के ही जनरल आफीसर कमांडिग अपनी सेना को छोड़ जीप में भाग निकले थे। उस जीप को जी० एस० ओ०-2 (परिचालन) चला रहे थे। जी० ओ० सी० ने न तो कोई बैठक की, न ही कोई आदेश जारी किए। उनके जी० ए० ओ० ने भी कोई निर्देश दिए बिना, यहां तक कि अपने स्टाफ को सूचित किए बिना भागने में अपने कमांडर का अनुसरण किया। चीनी सैनिकों ने न तो कोई गोली चलाई थी, न ही उनके किसी सैनिक का आसपास कहीं नामोनिशान था। दो बार सम्मान प्राप्त जनरल आफीसर कमांडिग युद्ध के लिए पूरी तरह सक्षम, समर्थित तथा बेहतर, अपनी ही सेना को जिस तरीके से छोड़कर भाग खड़े हुए थे, उसकी सेना के इतिहास में मिसाल ढूंढना मुश्किल है। कुछ ही मिनटों में जी० ओ० सी० अपने परिचालन स्टाफ अफसरों के साथ उस स्थान पर पहुंचे जहां चीनियों ने मार्गावरोध खड़ा कर दिया था। उन्होंने सड़क के किनारे अपनी जीप छोड़ दी तथा अपनी जान बचाने के लिए सिर पर पैर रखकर भाग निकले, जबकि तब तक कोई भी चीनी सैनिक दिखाई नहीं दिया था। पंद्रह हजार से ज्यादा सैनिकों की फौज की कमान तथा ढांचा, जिसपर हमारी भूमि के बीस हज़ार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र की रक्षा का भार था, चंद मिनटों में ही टूट गया और इस प्रकार 18 नवम्बर, 1962 को सुबह 6 बजे बिना लड़े ही हम युद्ध हार गए। सेना की वह डिविजन, जिसके साथ द्वितीय विश्वयुद्ध में वीरता से लड़ने का गौरव जुड़ा था तथा जिसने मुस्तैदी से लड़ने की परंपरा कायम की थी, अपने ही जनरल आफीसर कमांडिग तथा परिचालन स्टाफ के कारण एक दिन में पानी हो गई।

डिरांग ज़ोंग को प्रस्थान

मैंने ज़ोंज हथियार गाडी निकालकर ले चलने का फैसला किया। मैंने कुंवर बहादुर से किसी दूसरे वाहन में अपना अनुसरण करने को कहा तथा उन्हें बताया कि वह मुख्य सड़क पर मुझसे मिलें। सड़क का दृश्य और भी बदतर था। सैनिक बिना कहीं रुके, तेजी से डिरांग ज़ोंग गांव की ओर जा रहे थे। यहां तक कि कुछ तो भाग रहे थे। उनमें पूरी तरह आतंक छाया प्रतीत होता था। कुछ स्थानों पर गाड़ी रोककर मैंने कुछ ड्राइवरों को खोजने की कोशिश की, जिससे ब्रिगेड शिविर और ब्रिगेड सिगनल कंपनी क्षेत्र में रह गई जीपों और अन्य वाहनों को निकालकर लाया जा सकता था। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैंने राजपूताना राइफल्स के एक सूबेदार तथा मित्र लाइट इन्फेंट्री के एक अफसर से अपने क्षेत्र में रह गई 6 जीपों को निकालने के लिए कुछ ड्राइवर दिलाने के विषय में पूछा था। कोई भी यह

काम करने को तैयार नहीं था। भागती हुई सेना की स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि जैसे ही मैंने गाड़ी रोकी, चार-पांच सिपाही मेरी गाड़ी में घुस आए, क्योंकि वे बीमार थे तथा चल नहीं सकते थे। कुछ ने मेरी गाड़ी में कुछ छोटे बक्से फेंक दिए। किसीने चिल्लाकर बताया था कि उनमें दूरबीन, दिशामापी यंत्र आदि उपकरण हैं।

कुछ मिनट आगे चलने पर मुझे अपनी ब्रिगेड की सिगनल्स कंपनी के कमांडर मेजर एस० एस० बराड़ (अब मेजर जन० बराड़) मिले। वह भी डिरांग ज़ोंग की ओर जा रहे थे। मैंने उनसे भी पूछा कि छोड़ी गई जीपों को निकालने के लिए क्या वह अपनी कंपनी से कुछ ड्राइवर दिला सकेंगे? मैंने जब उन्हें आश्वस्त किया कि आसपास कहीं कोई चीनी नहीं हो सकता, और हमारी ही सेना के कुछ सिपाहियों ने घबराहट में कुछ गोलियां चलाई हैं, वह पांच चालकों के साथ मेरी गाड़ी में आ गए। वे सैनिक जो पहले गाड़ी में आ चढ़े थे, मुझे पीछे मुड़ते देख, उतर गए। हम ब्रिगेड मुख्यालय क्षेत्र वापस आए। उस क्षेत्र में वापस पहुंचकर निश्चय ही एक संतोष हुआ, जिसे भयाक्रांत सैनिक छोड़कर भाग गए थे। मुझे इस बात की खुशी थी कि मैं मेजर बराड़ को उनके चालकों सहित यहां लाने में सफल हो गया था।

जब हम ब्रिगेड क्षेत्र की ओर जा रहे थे तो मैंने देखा कि पहले आतंकित होकर लगभग भाग रहे सैनिकों की चाल अब मद्धिम पड़ गई थी। उन्होंने एहसास किया होगा कि स्थिति उतनी गंभीर नहीं है, अन्यथा हमारी गाड़ी वापस न जा रही होती। मैंने मेजर बराड़ से बुनियादी रणनीति पर चर्चा की; वह मुझसे सहमत थे कि चीनी हमारे क्षेत्र में उस तरह हमारी सेना का पीछा करते हुए कभी भी नहीं पहुंच सकते जैसा हमारे सिपाहियों की चाल से प्रतीत हो रहा था। यह एक आश्चर्यजनक स्थिति थी, जहां कोई तर्क नहीं चल पा रहे थे। यदि स्पष्ट कहूं तो उस समय तक की अपनी अल्प सेवा अवधि तथा गुप्तचरी के अनुभव से रहित मैं यह सोच भी नहीं पाया था कि यह एक भितरघात का मामला भी हो सकता है।

हम सुबह आठ बजे ब्रिगेड शिविर क्षेत्र में पहुंच गए थे। वहां एक उल्टी पड़ी एंबुलेंस को देखकर हमें आश्चर्य हुआ, जिससे मार्ग अवरुद्ध हो गया था। ब्रिगेड आर्डनेंस अफसर मेजर पुरंदरे उसे हटा रहे थे, ताकि असहाय पड़ी जीपें आगे ले जाई जा सकें। मेजर पुरंदरे सभी वाहनों को ढूंढ़कर निकालने के काम में जुटे थे। एक अफसर के संयम, साहस और अनुकरणीय व्यवहार का यह अच्छा उदाहरण था। यदि केवल उच्च कमांडरों ने इस उदाहरण से सबक लिया होता तो यह लड़ाई बिना लड़ी न रह जाती।

वाहन निकाल लाने के बाद हम डिरांग ज़ोंग की तरफ बढ़े। इस समय तक सड़क पर बहुत ही कम सैनिक जाते दिखाई दे रहे थे, यदा-कदा 25-पाउंड

तोप का धमाका भी सुनाई पड़ जाता था। हमने सड़क के किनारे लगी दो तोपें देखी थीं। सड़क से जरा नीचे एक खुले स्थान पर भी कुछ तोपें लगी थीं। तीन टैंक भी सड़क पर हमें नजर आए क्योंकि वाहनों के कारण आवागमन अवरुद्ध हो गया था। जनरल आफीसर कमांडिंग की आकर्षक सान बत्ती जड़ी जीप भी यहीं खड़ी थी। यह देखकर आश्चर्य हुआ कि कुछ चालक अभी तक अपने-अपने वाहनों पर ही डटे थे, और उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं थे। जब मैंने चालकों से पूछा कि उन्हें क्या आदेश है, तो उन्होंने बताया कि उनके अफसर उन्हें प्रतीक्षा करने को कहकर आगे गए हैं और वे उनके अगले निर्देशों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। मुझे विश्वास था कि कुछ चालक अपने अफसरों के आदेशों का पालन करते यहीं डटे रहेंगे। हमने फंसे टैंकों को आगे बढ़ने की जरूरत महसूस की और इसके लिए मुख्य मार्ग से कुछ वाहन हटवा दिए, ताकि टैंकों को रास्ता मिल सके।

हम डिराग ज़ोंग की ओर आगे बढ़े। अब यह बात साफ हो रही थी कि अधिकांश सैनिक सड़क के किनारे अपने वाहन छोड़कर दक्षिण में पहाड़ी रास्ते से मांडला दर्रे की ओर भाग गए हैं। हमें मालूम हुआ कि सिपाहियों ने यह रास्ता इसलिए अपनाया क्योंकि डिराग ज़ोंग में थोड़ा आगे फील्ड गनों की मार के भीतर आने वाले मुन्ना शिविर क्षेत्र में, चीनियों ने एक मार्गावरोध खड़ा कर दिया था। हमने स्थिति पर आपस में विचार-विमर्श किया तथा किसी ऐसे आदमी की तलाश में चारों ओर गए जो इस बारे में हमें ज्यादा जानकारी दे सकता था। मेजर बराड़ और पुरंदरे जानकारी हासिल करने एक ओर गए। मैं 6 फील्ड रेजीमेंट के मेजर चोपड़ा से मिला। उनके पास कोई उपयोगी सूचना तो नहीं थी, लेकिन पूरे वाकये को लेकर वह काफी नाराज थे। मुझे पता चला कि संभागीय मुख्यालय के कैप्टन नरेंद्र रावत कुछ जवानों के साथ मुन्ना कैंप जाने वाले मार्ग पर गए हैं। उन छुटपुट सूचनाओं से एक तस्वीर उभर रही थी। हमें मालूम हुआ कि डोगरा रेजीमेंट के मेजर मुल्लर (बाद में मेजर जन०) तथा मद्रास बटालियन के मेजर हरिसिंह के नेतृत्व में दो सैनिक दस्ते मार्गावरोध हटाने के लिए भेजे गए थे, लेकिन उन्हें अपने कार्य में सफलता नहीं मिली। टैंको, तोपखाने की एक टुकड़ी तथा पैदल सेना की तीन टुकड़ियों की संयुक्त शक्ति से मार्गावरोध आसानी से दूर हो सकता था। मुन्ना कैंप क्षेत्र के नजदीक टैंकों को तैनात करने और संचालन के लिए पर्याप्त क्षेत्र था और दुश्मन के लिए टैंकों और तोपखाने से लैस पैदल सेना की टुकड़ियों के सामने टिक पाना मुश्किल होता, चीनियों के पास ऐसे संयुक्त बल के मुकाबले न तो टैंक थे और न ही तोपखाना।

सुनहरी किरण

डिराग ज़ोंग के एक गोम्पास (मंदिर का विश्रामालय) में मेरी भेंट मद्रास

वटालियन के मेजर हरिसिंह से हुई, उन्होंने मुझे वताया कि वह सेवानिवृत्त होने वाले हैं लेकिन युद्ध के कारण रुक गए हैं। उन्होंने आरोप लगाया कि डोगरा कंपनी, जो उनकी दाईं ओर थी, उन्हें छोड़कर मैदान से भाग गई। मैंने एक अनुकूल स्थान तक पहुंचकर चारों ओर देखा तथा महसूस किया कि हम अस्थायी तौर पर डिरांग ज़ोंग के आसपास प्रतिरक्षात्मक पोज़ीशन ले सकते हैं। इसके वाद हम मुन्ना कैंप क्षेत्र में दुश्मन की ताकत का पता लगाने के लिए गश्ती दल भेज सकते थे तथा क्षेत्र में उपलब्ध सिपाहियों को एकत्र कर टैंकों की मदद से सड़क खोलने का विचार कर सकते थे। यह काम कठिन अवश्य था, पर असंभव नहीं। आसपास ऐसे अनेक मज़वूत अफसर और जवान मौजूद थे, जो चीनियों पर टूट पड़ना चाहते थे। खतरनाक स्थितियों के लिए तैयार कुछ अफसर और जवान हमेशा मिल जाते हैं। मुझे याद है, एक युवा अफसर दुश्मन का पता लगाने के लिए सवसे अगले टैंक से भी आगे निकल गया था, वहुत संभव है, वह एक खतरनाक अभियान की खोज में निकला था। मुझे नहीं मालूम, वह लौट भी पाया था अथवा नहीं।

उसी समय मुन्ना कैंप की ओर से इकहरी पंक्ति में मद्रास वटालियन के जमादार विनयागम अपने कुछ जवानों के साथ आते दिखाई दिए। उनके सिर से खून वह रहा था तथा उसपर पट्टियां वंधी थीं। वह भी डोगरा कंपनी के प्रति काफी क्रुद्ध थे, जो उनके वाज़ू से हटकर भाग गई थी। परिणामस्वरूप चीनियों के एक छोटे-से दल ने ऊपरी ढलान पर कब्ज़ा कर उनपर गोलियां चलाईं। विनयागम चीनियों से तुरंत वदला लेना चाहते थे। उन्होंने मुझसे निर्देश देने के लिए कहा। उनमें लड़ने की पूरी हिम्मत वाकी थी। मैंने डिरांग ज़ोंग के दक्षिण-पूर्व कोने की एक चोटी पर स्थित एक गोम्पा उन्हें दिखाया, जिसपर एक झंडा लहरा रहा था। मैंने उनसे उस स्थान पर टिक जाने को कहा, क्योंकि पूर्वी ओर से होकर गांव जाने के लिए वही स्पष्ट रास्ता नज़र आता था। महार मीडियम मशीनगन कंपनी के लांस नायक प्रेमसिंह मेरे पास आए और वताया कि उनकी मीडियम मशीनगन पूरी तरह ठीक है और वह इसे दुश्मन के खिलाफ इस्तेमाल करना चाहते हैं। मैंने सड़क के उत्तर में स्थित एक चोटी की ओर इशारा किया। उन्होंने तुरंत वहां पोज़ीशन लेकर अपनी मशीनगन लगा दी, वाद में मेजर वराड़ भी दुश्मन के ठिकाने मालूम करने के उद्देश्य से उसी पोज़ीशन पर गए।

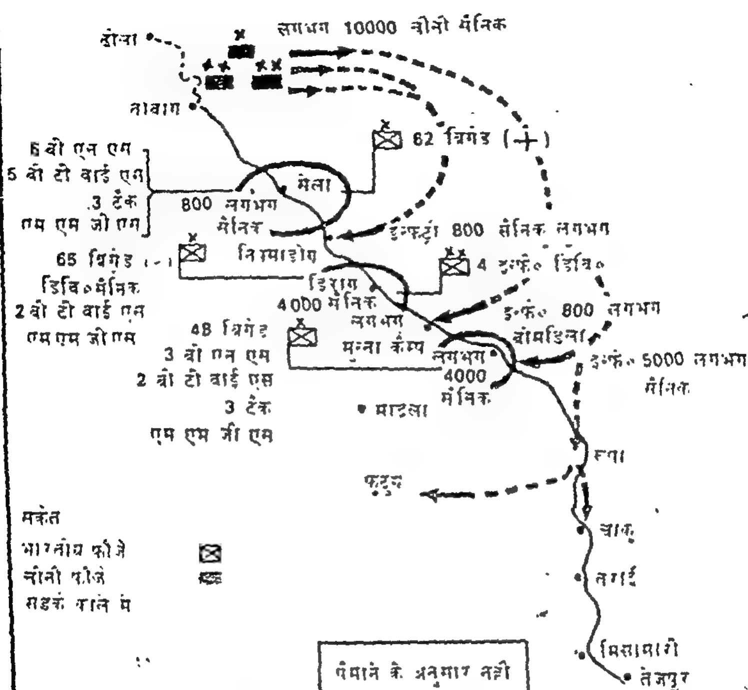
अव गोला-वारूद की ज़रूरत थी। मैंने इंजीनियर रेजीमेंट के सूवेदार मेजर से एम० एम० जी० और एल० एम० जी० पोज़ीशनों के लिए गोला-वारूद की व्यवस्था करने को कहा। वह सड़क किनारे खड़े एक 'एक-टन ट्रक' को ले आए। ट्रक गोला-वारूद से पूरी तरह भरा था। लांस नायक प्रेमसिंह द्वारा पोज़ीशन लेने तथा एम० एम० जी० से गोलीचालन शुरू करने का वहां एकत्र सिपाहियों पर अनुकूल असर होता दिखाई दिया। उससे पहले जव हलकी मशीनगनधारी एक

मजबूत सिख जवान से मैंने कोई पोजीशन लेने को कहा था तो उसने अपनी तबीयत खराब बताते हुए मशीनगन फेंक दी थी तथा अपने अफसरों को बुरा-भला कहता भाग गया था। जैसे ही एक अफसर ने यह मशीनगन उठाई, हमारी ब्रिगेड मरम्मत शाखा की 'इलेक्ट्रिकल एंड मैकेनिकल इंजीनियर्स कोर' के लांस नायक धनपाल ने आगे बढ़कर वह मशीनगन उनसे ले ली। एक अन्य जवान ने भी उनका अनुसरण किया और बताई गई पोजीशन पर डट गया। उनका कार्य निश्चय ही साहसपूर्ण था जिससे दूसरे सैनिकों ने भी प्रेरणा ली। हम देख रहे थे, ऐसे समय भी, जबकि अनेक सैनिक मांडला की ओर भाग रहे थे, कुछ सिपाही युद्ध करने को तत्पर थे।

मैं पुनः गोम्पा लौट गया जहां मेरी मुलाकात मेजर हरिसिंह तथा कुछ लोगों से हुई। तभी, जब मैं मेजर हरिसिंह से बात कर रहा था, एक गोली सनसनाती हुई हमारे पास से निकल गई। सौभाग्य से कोई नुकसान नहीं हुआ। गोली के वेग से यह आभास होता था कि वह काफी दूर से छोड़ी गई है और जब वह दीवार से टकराकर गिरी, उसमें शायद ही कोई वेग बचा था। यह बहुत छोटी गोली थी जो यदि किसी व्यक्ति के लग भी जाती, तो मुझे शक है कि इससे कोई ज्यादा नुकसान हो सकता था। अलबत्ता, इससे ईश्वर में हमारा विश्वास बढ़ गया। हमें लगा कि जब तक ईश्वर न चाहे, किसीका बाल बांका नहीं हो सकता। मैंने महसूस किया कि इन परिस्थितियों में हमें एक चीनी सिपाही को पकड़ने के लिए खुद को संगठित करना चाहिए; तभी मैदानी क्षेत्र में लौटना ठीक रहेगा।

उस समय सामरिक स्थिति इस प्रकार थी : हम जानते थे कि 62 इन्फैंट्री ब्रिगेड या तो सेला में या फिर सेला और दिरांग के बीच होनी चाहिए (तब तक हमें यह जानकारी नहीं थी कि वह सेला से प्रस्थान कर चुकी है)। गश्त पर गए हुए सैनिकों को छोड़कर पूरी 48 इन्फैंट्री ब्रिगेड बोमडिला में होनी चाहिए थी। हालांकि बड़ी तादाद में सैनिक दिरांग जोंग में जा चुके थे—जिनमें 4 इन्फैंट्री संभागीय मुख्यालय तथा 65 इन्फैंट्री ब्रिगेड मुख्यालय के सैनिक शामिल थे, लेकिन फिर भी सिगनल्स, ई० एम० ई० इंजीनियर इन्फैंट्री तथा आरमर्ड कोर के कुछ सिपाही मिलकर एक प्रभावी लड़ाका फौज बना सकते थे।

हमारे पास यही विकल्प था कि इन दो ब्रिगेडों के संपर्क में रहा जाए, नवीनतम जानकारी प्राप्त की जाए तथा फिर सोचा जाए कि किस तरह बेहतर कार्रवाई की जा सकती है। मेजर बराड़ ने अपने एक नायक को, जिसे बेतार की आवृत्तियों की समझ थी, चालक द्वारा छोड़े गए एक टैंक तक पहुंचने तथा किसी भी ब्रिगेड से संपर्क स्थापित करने की कोशिश करने को कहा। उस समय हमारे निकट तीन टैंक थे, लेकिन केवल टैंक चालक ही वहां देखभाल को मौजूद था। कुछ और टैंक भी गांव आने थे। चालक से पता चला कि टैंक गोला-बारूद से पूर्णतः लैस हैं।



अन्य टैंकों में भी गोला-बारूद पर्याप्त मात्रा में था, क्योंकि किसीका भी इस्तेमाल जो नहीं हुआ था। पर कमांडरों के बिना वे टैंक बेकार थे। यह बड़े दुःख का विषय था कि पांच टैंक, जो दुश्मन के लिए भयंकर साबित हो सकते थे, दुश्मन की पैदल सेना की दया पर छोड़ दिए गए थे। किसी भी हालत में टैंकों पर डटे रहने की परंपरा इनके चालकों को याद नहीं रही थी। भारतीय सेना के इतिहास में पहली बार टैंकों के कमांडर अपने टैंकों को इस स्थिति में छोड़ गए थे, जबकि उनके सामने दुश्मन की पैदल सेना के अलावा कोई चुनौती नहीं थी तथा उस पैदल सेना के पास कोई टैंक तोड़ने वाले हथियार भी नहीं थे। साहसी सैनिकों की जरूरत थी। युद्ध में हथियार नहीं, सिपाही महत्त्वपूर्ण होता है। 1965 के युद्ध में पाकिस्तानी सैनिक भी भारतीय 'शेरमान' तथा 'सेंचुरियन' टैंकों के मुकाबले श्रेष्ठतर अपने पैटन टैंकों को छोड़कर भाग गए थे। आजकल सेना को तथाकथित दूरमारक युद्धक विमान या इसी तरह के दूसरे जटिल युद्धास्त्र दिलाने के लिए विवाद चल

रहा है। जब तक सेना की चयन-प्रणाली उन हथियारों के लिए सही कमांडर प्रदान नहीं करती या सेना के कमांडरों का कुल चयन ठीक तरह से नहीं होता, बेहतर हथियार उपलब्ध कराने की बात का कोई अर्थ नहीं है।

हम दुश्मन की शक्ति का पता यदा-कदा छोटे हथियारों से छोड़ी गई गोलियों से लगाने की कोशिश कर रहे थे। मैंने मेजर बराड़ (जो एक मीडियम मशीन गनर के साथ थे) के पास जाकर पता लिया कि क्या वह किसी चीनी को खोज पाए थे। उन्हें कोई चीनी तो नहीं दीख पाया था, लेकिन यदा-कदा आने वाली गोलियों के आधार पर वह उनके सम्भावित ठिकाने की दिशा जरूर समझ सके थे।

मैंने दूसरी पोजीशन तक जाने का फैसला किया। जैसे ही मैं इसके लिए आगे बढ़ा, एक गोला धमाके के साथ उसी स्थान पर आकर गिरा, जहां कुछ देर पहले मैं खड़ा था। इस बार भी ईश्वर की कृपा से बचाव हो गया था। एक बार फिर मुझे लगा कि अपनी बारी आने से पहले कुछ नहीं हो सकता। कभी-कभी इस तरह का अहसास दुःसाहस भी पैदा करता है।

मैं मद्रास प्लाटून के ठिकाने पर पहुंचा। प्लाटून वहां नहीं थी। न जाने वह कहां चली गई थी। लेकिन मैं समझ सकता था कि भारी संख्या में सैनिकों को पीछे की ओर जाते देखकर जे० सी० ओ० को लगा होगा कि वह अपनी पोजीशन पर टिके नहीं रह सकते। यह भी हो सकता था कि वह सामरिक दृष्टि से बेहतर ठिकाने पर पहुंच गए हों। बहरहाल, मैंने उन्हें फिर नहीं देखा।

दोपहर बाद मैंने मेजर पुरदरे और मेजर बराड़ को डिराग जोंग गांव में छोटे-से झरने के पास देखा। अगली कार्रवाई का फैसला करने के लिए हम इकट्ठे हो गए। पहले हमने यही तय किया था कि रात में वहां डटे रहकर दुश्मन के संभावित गश्ती दल पर हमला कर उसे नुकसान पहुंचाएं और फिर कम से कम एक चीनी सिपाही को पकड़कर अन्य लोगों की तरह दक्षिण की ओर आगे बढ़ जाएं। लेकिन अब विचार-विमर्श के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमें तुरंत यहां से चल देना चाहिए क्योंकि कुछ का विचार था कि हमारे मंसूबे पूरे होने की उम्मीद बहुत कम है। हमने सैनिकों को चिल्लाकर तथा कुछ धावकों के माध्यम से बताया कि वे अपना गोला-बारूद खत्म होते ही माडला जाने वाले पहाड़ी रास्ते से हमारे पीछे चले आएं। इस प्रकार हम छोटे-छोटे दलों में वापस लौट सकते थे। उस समय हवा में बढ़ती हलकी ठंड यह आभास देती थी कि सूर्यास्त होने वाला है।

डिराग जोंग में कुछ सैनिकों की हिम्मत को देखकर बड़ी प्रसन्नता होती थी। एक जे० सी० ओ० तथा कुछ जवान मझली और हलकी मशीनगनों को बारूद की आपूर्ति के काम में दुगुने उत्साह और शक्ति से जुटे थे। अनेक अफसर और जवान चीनियों पर धावा बोलना चाहते थे क्योंकि चीनियों के अनियमित गोली चालन से यही आभास होता था कि उनकी संख्या काफी कम थी। जाहिर है, वह दुश्मन का

कोई गश्तीदल रहा होगा जिसने ढलान से मोर्चा लगाकर एक सामान्य रणनीति के अंतर्गत गोलियां चलाई थीं। संभागीय मुख्यालय के लिए वे सैनिक बहुत उपयोगी सिद्ध हुए जो अनजाने ही पीछे रुक गए थे। उन्होंने कुछ देर तक मुख्यालय की प्रबलता से रक्षा की। इस तथ्य से अवगत होने के बावजूद कि उनका मुख्यालय खाली हो चुका है, संभागीय मुख्यालय के कुछ युवा अफसरों द्वारा चीनी गश्ती दलों की खोज में जुटे रहना यह संकेत देता था कि वीर और साहसी सिपाही अभी भी मौजूद हैं, यहां तक कि उस दिन भी, जो एक मनहूस सुबह थी।

अध्याय 7

लंबा सफर : असम के मैदानों को

मांडला की ओर

अनेक लोगों से हुई बातचीत तथा पहले मिले नक्शों के आधार पर हमें यह मालूम हो चुका था कि हमारी सेनाएं मांडला दर्रे की ओर बढ़ रही हैं, हालांकि हममें से किसीको भी उनकी आखिरी मंजिल का पता नहीं था। मैंने जीप में रह गए कुछ दिशामापी यंत्र, दूरबीनें तथा नक्शे निकाले तथा उन्हें अपने दल के अफसरों और कुछ सिपाहियों में बांट दिया। मेरे पास अभी भी वह कटा-फटा, पर महत्वपूर्ण नक्शा मौजूद है, जिसकी मदद से हम वापस लौट आए थे। हमने अपने दिशामापी यंत्र को 180 डिग्री पर, यानी दक्षिण की ओर टिकाया, तथा उसके निर्देशानुसार क्षेत्र पार दक्षिण दिशा में बढ़ने लगे। यात्रा के शुरू में कोई सड़क आदि न होने के कारण चलना बड़ा मुश्किल था। कुछ स्थानों पर तो हमें पथरीली जमीन पर टहनियों की मदद से चढ़ाई करनी पड़ी। अंत में हमें एक पगडंडी नजर आ गई। लगता था, हमारे अधिकतर सिपाहियों ने इसी उपमार्ग का प्रयोग किया था। उसी उपमार्ग पर चलते-चलते शाम हो जाने पर हमें एक घेर नजर आया जिसके आस-पास कई जगहों पर आग जल रही थी। यह डिरांग जोंग गांव के आदमियों की टोली लगती थी, पर नजदीक जाने पर मालूम हुआ कि यह डोगरा कंपनी थी, जिसका जिक्र मद्रास बटालियन के जी० सी० ओ० ने किया था।

यहां हमारी भेंट कंपनी के कमांडर मेजर मुल्लर (अब मेजर जन० मुल्लर) से हुई। मेजर वराह उनसे परिचित थे, अत उन्होंने मेरा भी उनसे परिचय कराया। जब उन्हें पता चला कि मैं 65 इन्फेंट्री ब्रिगेड का डी० क्यू० हूं तो उन्होंने मुझसे अपने लिए उचित आदेश मांगे। मैंने उन्हें बताया कि मैं उनको आदेश देने के लिए सक्षम नहीं हूं क्योंकि वह वरिष्ठ हैं, लेकिन मैं यह जरूर महसूस करता हूं कि वह डिरांग जोंग और निकटवर्ती क्षेत्र में चीनियों को खोजने के लिए एक गश्ती दल भेजें और मांडला को प्रस्थान करने से पूर्व एक चीनी सिपाही को पकड़ने का

प्रयास करें। मेरे सुझाव से वह उत्साहित नजर आए।

उनकी सैन्य टुकड़ी काफी शोर कर रही थी। यही नहीं, सिपाहियों द्वारा आस-पास अनेक स्थानों पर आग जलाए रखना भी उस स्थिति में ठीक नहीं दिखता था। अत: हमने वहां से तुरंत चलना ही बेहतर समझा। भुल्लर ने हमारे स्वागत में एक कप चाय पिलाने का प्रस्ताव किया था जिसे हमने तुरंत स्वीकार कर लिया।

मुझे बाद में पता चला कि मेजर भुल्लर को मार्गावरोध हटाने के लिए मेजर जन० पठानिया ने खासतौर से चुना था। मेजर भुल्लर ने भी इससे गौरवान्वित अनुभव किया था। पर शायद जिस ढंग से सैन्य कारंवाई की गई थी, उससे मार्गा-वरोध के मामले में जनरल को कामयाबी नहीं मिल सकी थी।

हमने इस दस्ते से विदाई ली और मांडला की ओर आगे बढ़ने लगे। चीनियों की ताकत और उनके ठिकानों का पता लगाने के लिए गश्ती दल भेजने के बजाय, जिसके लिए भुल्लर सहमत हो गए थे, दस्ते ने जल्दी से अपने तंबू खोले और हमारे पीछे-पीछे आने लगे। हमने महसूस किया कि इतना शोर मचानेवाले दस्ते के साथ चलना ठीक नहीं होगा, अत: उनके गुजर जाने तक हम रुक गए। हमने देखा कि रास्ते में जगह-जगह पर सैनिकों द्वारा छोड़े गए कंबल, छोटी पेटियां, संगीनें, नक्शे के डिब्बे, छोटे बक्से, एक राइफल, एल० एम० जी० पत्रिकाएं आदि बिखरे पड़े थे क्योंकि सीधी चढ़ाई के कारण एक-एक पौंड का वजन उठाना भी कठिन और थका देने वाला होता है। इसी कारण सैनिक ये सामान छोड़ते गए थे। लेकिन हमारे दल का एक जवान दो-दो राइफलें एक साथ लेकर चल रहा था। उसे देख-कर हमें सुखद आश्चर्य हुआ।

इस प्रकार के निष्ठापूर्ण दृश्यों को देखकर काफी तसल्ली होती थी। कितना अंतर था इनमें और दूसरे अनेक सैनिकों में जो अपने निजी हथियारों को भी रास्ते में फेंक गए थे!

रात घिरते ही हमने अपनी चाल तेज कर दी। कुछ ही देर में हमने अपने से पहले चले लोगों को पकड़ लिया था। रात में जब यही पता न हो कि आगे कौन चल रहा है तो पद-ढांचा व्यर्थ ही हो जाता है। मैंने अनेक जवानों, एन० सी० ओ० तथा जे० सी० ओ० अफसरों को बहुत मुंहफट होकर बात करते सुना।

बर्मा युद्ध के एक अनुभवी जी० सी० ओ०, 4 इन्फेंट्री डिविजन की खुल्लम-खुल्ला निंदा कर रहे थे। वह कह रहे थे कि अपनी पच्चीस वर्ष की सेवा के दौरान; जिसका कुछ हिस्सा उन्होंने पश्चिमी रेगिस्तान और बर्मा के पूर्वी भागों में बिताया था, कभी भी ऐसी लड़ाई नहीं लड़ी। उन्हें आश्चर्य था कि कैसे हमारी फौजें चीनियों से एक बार भी भिड़े बिना भाग आई थीं। वह दूसरे जी० सी० ओ० से पूछ रहे थे कि ऐसा क्यों हुआ।

एक अन्य एन० सी० ओ० जो संभवतः एक हवलदार मेजर थे, यह सोचकर काफी दुखी थे कि वह किस मुंह से गांव वापस जाएंगे और घर पर अपने संबंधियों को क्या बताएंगे। किसीने टिप्पणी की, "तुम्हें कुछ नहीं मालूम। हमारा काम है हुक्म पूरा करना। एतराज करना नहीं। जनरल साहब ज्यादा जानते हैं।" पश्चिमी मोर्चे पर रह चुके एक सिपाही ने इटली की सेना का जिक्र किया, जो उसके अनुसार, कभी लड़ाई नहीं लड़ती थी। कुछ ऐसे लोग भी थे जो अपने पद के प्रति काफी दृढ़ थे। उनका विचार था कि वे शीघ्र ही चीनियों से बदला लेकर उन्हें सबक सिखाएंगे। कुछ लोग जिन्होंने शायद जनरल कौल के बारे में सुन रखा था, पीछे हटने के लिए उन्हें ही दोषी ठहरा रहे थे। (एक बात स्पष्ट होती जा रही थी कि जनरल कौल के खिलाफ कुछ प्रचार अवश्य हुआ था। अधिकांश इस बात से चिंतित प्रतीत होते थे कि वे घर पर जाकर क्या बताएंगे, क्योंकि उन्होंने तो चीनियों की शक्ल तक नहीं देखी थी।)

मध्यरात्रि तक हम मांडला दर्रे पहुंच गए थे। अब हम भागी हुई सेना के आखिरी छोर पर थे। यह जानकर तसल्ली हुई कि अब हम एक मजबूत दल में होंगे तथा दुश्मन से आसानी से निपट सकेंगे, यदि उसने हमारे मार्ग में आने की कोशिश की।

हमें आराम की जरूरत थी, लेकिन हमसे आगे वाले चलते ही जा रहे थे। यदा-कदा वे आधा घंटा विश्राम जरूर कर लेते थे। ऐसे ही एक विश्राम काल के दौरान हमें एक कैवलरी मेजर का स्वर सुनाई दिया। वह अपने प्रथम टैंकों का जिक्र कर रहे थे, जिन्हें कमांडर और चालक दोनों ने ही असहाय छोड़ दिया था। एक अन्य बता रहा था कि कैसे यह अफसर चीनियों की गोली से बाल-बाल बचा था, और गोली राशन के कनस्तर पर जा लगी थी। मेजर उस कनस्तर को साथ लेकर चल रहा था। बाद में उसने उसे प्रेस के संवाददाताओं को दिखाया था, जिन्होंने मेजर की वीरता की गाथा अपने अखबारों को भेज दी थी। हमें एक कैवलरी मेजर भी मिला था जो बता रहा था कि चीनियों द्वारा भारी बमवर्षा और गोली चलाने के परिणामस्वरूप उन्हें अपने टैंकों को छोड़ देना पड़ा था। मेजर बराड़ और मैं इन बातों पर केवल हंस सकते थे। इन लोगों ने शायद सोचा था कि असलियत बयान करने के लिए कोई भी व्यक्ति प्रभागीय मुख्यालय में नहीं बचा था। यानी यह बात किसीको मालूम नहीं होगी कि अफसरों और सैनिकों ने दुश्मन से संपर्क तक किए बिना ही अपने टैंक छोड़ दिए थे। वरिष्ठ अफसरों के मुंह से ऐसी मनगढ़ंत कहानी, जो सच से कोसों दूर थी, सुनकर विस्मय होता था।

हम उस स्थान पर ढाई बजे तक मौजूद थे जहां कथित बमवर्षा और गोला-बारी हुई थी। चीनियों द्वारा गोलाबारी हमने कभी नहीं देखी थी। जब हमने यह सच्चाई अपने कुछ लोगों को बताई तो उन्हें सुनकर बिलकुल यकीन नहीं हुआ।

हमारी सेना में ऐसे कई कनिष्ठ अफसर मौजूद थे जो वापस लौटने से पहले चीनियों के साथ कुछ देर लड़ाई अवश्य करना चाहते थे। पर दुर्भाग्य से ऐसे अफसरों की संख्या नगण्य थी, और उच्च अफसरों ने उनकी कभी सराहना नहीं की; उल्टे 'नेपोलियन' बनने की कोशिश के लिए उन्हें फटकार लगाई जाती थी। मैं एक तोपखाने के कमांडर से मिसामारी में मिला था। वह अपने कनिष्ठ अफसरों से बहुत नाराज़ थे क्योंकि वे 'नेपोलियन' बनने की कोशिश में पीछे हटने के आदेशों की अवहेलना कर रहे थे। मुझे उनसे पूछना पड़ा—क्या बेहतर है, नेपोलियन की तरह लड़ना या इतालियों की तरह भाग जाना ?

हमारी प्रणाली में ऐसा भी कोई तरीका नहीं है जिसके तहत अफसरों और जवानों के शौर्यपूर्ण कार्यों को प्रकाश में लाया जा सके। मेजर जमवाल जो चीनियों को नष्ट कर देने के लिए सक्षम अपने टैंकों को असहाय छोड़कर तेजपुर पहुंच चुके थे, पहले ही समाचारपत्रों को अपना इंटरव्यू दे चुके थे। अखबारों द्वारा उन्हें 'हीरो' बनाया जा रहा था हमें पता चला कि उन्हें जनरल द्वारा इनाम में महावीर चक्र दिलाया जा रहा था।

नारकीय यात्रा

18-19 की पूरी रात हम चलते रहे क्योंकि, हम किसी चीनी गश्ती दल के हाथ नहीं पड़ना चाहते थे। अगली सुबह देर से हम फुदुंग गांव पहुंचे। हमसे बहुत पहले डिरांग ज़ोंग से चली अधिकांश फौज फुदुंग के पास पूरी रात सोई थी तथा सुबह उठकर आगे बढ़ी थी। आसपास का इलाका पीपों, कागज, मेस के डिब्बों तथा बुझी हुई अग्नि से भरा था। पीछे छोड़े निशानों को देखकर यह कोई भी आसानी से समझ सकता था कि सैनिकों ने यहां शिविर डाला था। हमारे दल ने कोई नींद नहीं ली थी, चौबीस घंटों से कुछ नहीं खाया था तथा बुरी तरह थके थे और पीछा करते किसी गश्ती चीनी दस्ते का मुकाबला करने की स्थिति में नहीं थे, लेकिन फिर भी हमने आराम करना ठीक नहीं समझा। एक चीनी सिपाही को पकड़ने के अपने उद्देश्य में असफल होने के बाद, अब हम चीनियों के हाथों बंदी नहीं बनना चाहते थे, न ही भागने की कोशिश में उनकी गोली से मरना चाहते थे। इसलिए हमने विश्राम न करने का और अनवरत चलते रहने का ही फैसला किया। हम लोगों को बड़े जोरों से प्यास लगी थी। थकान भी हमें इतनी महसूस हो रही थी कि एक कप चाय और कुछ देर नींद के लिए हम अपनी कोई भी चीज़ देने को तैयार हो जाते। एक जवान ने हमें पूड़ियां पेश कीं। हम उन्हें लेना तो चाहते थे, लेकिन अफसर का स्वाभिमान आड़े आया। आखिर जवान को भी उसकी ज़रूरत थी, बल्कि हो सकता है, वह बाद में उसे न मिल पाती। हमें अपनी ब्रिगेड के एक युवा अफसर, कैप्टन वाली मिले। उनके पास पर्याप्त खाद्य-सामग्री और

एक बिस्तर था। इस अफसर के पास इन चीजों को देखकर लगा कि वह सिर्फ अपने ही बारे में चिंतित है। जबकि अनेक लोग भूखे थे, इसके पास काफी खाद्य-सामग्री भी थी और बिस्तर भी। वह स्थिति का फायदा उठा रहा था, क्योंकि उस समय वरिष्ठ अफसर मीनमेख करने की हिम्मत नहीं कर सकते थे क्योंकि वह स्थिति के लिए स्वयं ही दोषी थे। हमें पता चला कि डिविजन के जनरल आफिसर कमांडिंग ने इसी स्थान पर रात बिताई थी।

उन्होंने बोमडिला जाने की अपनी योजना छोड़ दी थी क्योंकि रेडियो पर बोमडिला के हाथ से निकल जाने का समाचार आ चुका था। दिलचस्प बात यह थी कि उनके अपने जनरल स्टाफ अफसर ग्रेड-1 किसी बहाने संभागीय कमांडर के दल को छोड़ आगे भाग गए थे। यह बात मुझसे जनरल ने एक भेंट के दौरान बताई थी। संभवत: वह स्टाफ अफसर अपनी हिम्मत तो पूरी तरह खो ही चुके थे, आस-पास के लोगों को भी हतोत्साहित कर रहे थे। जनरल ने मुझे बताया कि वह अपने जी० एस० ओ०-1 की सक्षमता में विश्वास खो चुके थे तथा उसके स्थान पर कमांडर इंजीनियर्स को लाना चाहते थे। लेकिन हालात ने ऐसा नहीं होने दिया—जनरल की सफाई में दम नहीं था। कुछ स्वार्थी उच्चाधिकारियों ने जी० एस० ओ०-1 को बचा लिया—शायद एक और पराजय दिलवाने, यद्यपि 1971 में शकरगढ़ क्षेत्र की यह पराजय उतनी बड़ी नहीं थी। जैसीकि उम्मीद की जा सकती है, इस बार वह अफसर वहां ब्रिगेडियर के रूप में मौजूद था!

फुदग गांव के आगे का रास्ता नक्शे में नहीं दिखाया गया था, लेकिन दक्षिण की ओर एक छोटी नदी बह रही थी। हमने सोचा कि यदि हम नदी के साथ-साथ चलते जाएं तो आसाम के मैदान में पहुंच जाएंगे। लेकिन हमने फैसला किया कि जरा देर सोकर यात्रा शुरू करेंगे।

नदी के साथ की यह यात्रा खतरनाक थी। थोड़ी-थोड़ी देर में हमें आगे बढ़ने के लिए नदी को पार करना पड़ता था। कुछ स्थानों पर तो यह घुटनों तक ही गहरी थी, पर ऐसे अनेक स्थान थे जहां उसको पार करना आसान नहीं था। बहाव इतना तेज था कि एक-दो लोग अकेले उसे पार करने की कोशिश करते तो वह तेजी से उन्हें बहा ले जाता। इसलिए हम एक-दूसरे का हाथ पकड़कर पार करते थे। यहीं हमें अकेले जाते हुए कुछ लोग मिले। इनमें से अधिकांश हमारे साथ हो लिए। संभव है, इस मौत की घाटी में कइयों ने अपनी जानें गवा दी हों, क्योंकि इस घाटी से सही सलामत दूसरे पार पहुंच जाना किसी चमत्कार से कम नहीं था। 'ब्रिज ऑन दि रिवर क्वाइ' फिल्म के डरावने दृश्य भी इस मौत की घाटी से गुजरने वालों के अनुभव के सामने फीके पड़ गए थे।

इस व्यवहार में हमें इंसान के बढ़िया से बढ़िया और घटिया से घटिया व्यवहार का अनुभव हुआ। एक हट्टे-कट्टे नौजवान एन० सी० ओ० ने सुझाव

दिया कि हमें अपने सूबेदार हेड क्लर्क को पीछे छोड़ देना चाहिए क्योंकि वह काफी तेज़ नहीं चल रहा था। सूबेदार हेड क्लर्क मरियल-सा अधेड़ बंगाली था। एक बार तो वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ना चाहता था क्योंकि उसकी राय में उस यात्रा से मौत भली थी। उसकी मदद कर उसे आगे बढ़ने के लिए तैयार किया गया। एन० सी० ओ० की मानसिकता को जानने की गरज़ से मैंने पूछा कि सूबेदार जैसे और भी कई लोग होंगे जो चल नहीं पा रहे, आखिर उनका क्या किया जाए? एन० सी० ओ० का विचार था कि यदि वे लोग चल नहीं पा रहे तो उन्हें छोड़कर आगे बढ़ा जाए क्योंकि वे औरों पर भी एक बोझ थे। वहीं बैनी सिंह नाम का एक पतला-दुबला जवान भी था। वह रास्ते-भर उस सूबेदार की मदद करता रहा। बल्कि जहां चलना ज़्यादा मुश्किल होता, वहां वह उसके हथियार भी खुद उठा लेता। मुसीबत में ही आदमी की पहचान होती है। युद्ध में जनरल से जवान तक—सभी का चरित्र उजागर हो जाता है।

अग्नि-परीक्षा

मार्ग में हमारी सबसे बड़ी समस्या यह थी कि एक तो उस बीहड़ क्षेत्र में चलना वैसे ही थकाने वाला था, दूसरी ओर बिना कुछ खाए हमारी ताकत भी घट रही थी। हम केवल अपने दृढ़ संकल्प के बल पर ही आगे बढ़ पा रहे थे। जिंदा रहने की प्रबल इच्छा अनेक लोगों में दिखाई पड़ रही थी, खासकर अति दुर्बल लोगों में, जो थककर चकनाचूर हो जाने के बावजूद आगे बढ़ते जा रहे थे। हम अपने दल के किसीको भी पीछे नहीं छोड़ सकते थे। दुर्बल लोगों की हम बारी-बारी से मदद कर रहे थे। विपत्ति में उदाहरण ही सबसे बड़ा शिक्षक होता है।

रास्ते में कहीं पर हमारा दल दो भागों में बंट गया। मेजर बराड़ ने कुछ लोगों के साथ अलग रास्ता पकड़ लिया था। रास्ते-भर हमने कंदमूल और स्वादिष्ट हरी पत्तियां खाकर काम चलाया। एक आदमी के पास कुछ चाय पत्ती थी। हमने उसे एक टीन के डिब्बे में उबाल लिया। यह बिना चीनी और दूध की चाय थी। हम सबने एक-एक घूंट पी। निश्चय ही इससे हमें नई शक्ति मिली।

थोड़ी देर में बूंदा-बांदी शुरू हो गई। हम सभी एक छत के नीचे एक-दूसरे से सटकर बैठ गए। छत से पानी टपक रहा था। वहां पास ही आग जल रही थी जिससे काफी धुआं उठ रहा था। आसाम राइफल्स के कुछ जवान जो अपने परिवारों सहित वापस लौट रहे थे, हमसे आ मिले। हमने उनके एक आदमी से मुर्गा खरीदा और उसे आग में भूनने की नाकाम कोशिश की। उसे अधपका ही बिना नमक के खाया। अपनी याद में मुझे उससे ज़्यादा स्वादिष्ट मुर्गे का मांस कभी नहीं मिला!

पांच-छः दिन तक कंदमूल तथा स्थानीय वनस्पति के सहारे चलते रहकर हमें

लगने लगा कि हमारी अंतहीन यात्रा का अंत निकट आ गया है। हमें यह देखकर संतोष हुआ कि जिस नदी के सहारे हम लोग चल रहे थे, वह आगे आकर अनेक नहरों में बंट गई थी। मैदानी क्षेत्र में पहुंचकर नदी का ऐसा रूप हो जाना सामान्य बात है। हम सभीको लग रहा था कि जिस भयंकर अग्नि-परीक्षा से हम गुजरे थे, चीनियों से लड़ना उसके मुकाबले कुछ नहीं था!

चपाती वाला हेलिकोप्टर

अपनी भयानक यात्रा के अंतिम दिन हमारे ऊपर से उड़ते एक हेलिकोप्टर की निगाह हमपर पड़ गई। हमने उसे इशारा किया तो वह हमारे पास ही उतर गया। हेलिकोप्टर से चपातियों की एक टोकरी लिए जनरल स्टाफ अफसर-2 (परिचालन) उतरे। उन्होंने मुझे बुलाया और टोकरी को फेंक दिया। उन्होंने कहा उनके पास ज्यादा वक्त नहीं है, इसलिए टोकरी चंद मिनटों में खाली कर दी जाए। मैंने उनसे कहा वह स्वयं ही चपातियां बांट दें क्योंकि मैं काफी थका हुआ हूं। उनके अक्खड़ व्यवहार पर मुझको बहुत गुस्सा आ रहा था। अब तक मैं समझ चुका था कि वह कितना असैनिक व्यक्ति था। जो चीनियों को सबक सिखाने की बात कर रहा था, वह मौका मिलते ही सबसे पहले खुद ही भाग आया था। एक जवान ने अपना नियंत्रण खोकर अपनी भरी हुई स्टेनगन को मेजर बरिंदर-सिंह की ओर घुमाया। वह शायद हमारे बीच हुई कहासुनी को गलत समझ गया था। इन लोगों के मन से पद और अधिकार के प्रति सम्मान भावना पहले ही लुप्त हो चुकी थी। मैंने उसे रोका और स्टेनगन को खाली करवाया। पूरी तरह से थक चुके कुछ सिपाही हेलिकोप्टर में बैठकर जाना चाहते थे। जी० एस० ओ०-2 ने स्थिति को भाप कर चपातियां जमीन पर गिरा दीं और खाली टोकरी लेकर हेलिकोप्टर में चढ़कर उड़ गया। हालांकि चपातियां हम पर ऐसे फेंकी गई थीं, जैसे भीख हो और जमीन पर गिरकर उनमें कुछ मिट्टी भी लग गई थी, लेकिन उस समय हमने उनका हार्दिक स्वागत ही किया।

कुछ स्टाफ अफसर काफी चालाक थे। मुझे शक था कि मैं उस जवान को अफसर पर गोली चलाने से रोक भी पाऊंगा या नहीं, क्योंकि वह अफसर जिस तरह स्थिति से निपटना चाहता था, उसमें आडंबर की बू आती थी। मुझे आश्चर्य था कि जो अफसर चीनियों को कुचल देने की बड़ी-बड़ी बातें कर रहा था, वह दुश्मन की शक्ल देखे बिना ही कैसे जान बचाकर भाग निकला था, और अब सेवा कार्य पर निकला था।

मुझे बाद में पता चला कि इन उच्च अफसरों ने एक अलग ही कहानी तैयार कर ली थी, जिसके अनुसार उस लड़ाई में टैंकों का उपयोग संभव नहीं था। संभव है, ऐसा जनरल कौल को दोषी ठहराने के लिए किया गया हो क्योंकि उस क्षेत्र में

टैंक तैनात करने का फैसला उन्हींका था, किन्तु ब्रिगेडियर जनरल स्टाफ, एच० क्यू-4 कोर तथा डिविजन के० जी० एस० ओ०-2 (परिचालन) बख्तरबंद सैन्य दल के अफसर थे। उन्हें पैदल सेना के मुकाबले टैंकों के फायदे की बेहतर समझ होनी चाहिए थी।

हमने आगे बढ़ना जारी रखा। कुछ देर बाद हमें हाथियों के पांवों के निशान और उनका मल दिखाई दिया। इससे जाहिर था कि आस-पास कुछ जंगली हाथी थे। हमने खतरे से निपटने के लिए अपने-आपको तैयार कर लिया था। अब जंगली हाथी बातचीत का विषय बन गया था। लोग दिलचस्प किस्से सुना रहे थे।

भैरोगढ़ में

जंगली क्षेत्र को पार करने के बाद हम कई हिस्सों में फैली नदी पर पहुंच गए। नदी किनारों पर रेत जमी थी। चलना अब भी दूभर था—पक्की जमीन के कारण नहीं, बल्कि रेतीले मैदान के कारण, जिसे अब हम पार कर पा रहे थे। हम समझ गए कि अब हम मैदानी क्षेत्र की किसी बस्ती के नजदीक हैं।

तभी हमें फौजी गर्म कोट पहने एक आदमी दिखाई दिया। कोट पर पदसूचक बिल्ले नहीं थे। मैंने उन्हें तुरंत पहचान लिया। वह मेजर जनरल भंडारी थे, जिनसे अनेक वर्ष पहले आर्टिलरी स्कूल में मेरी भेंट हुई थी। उस समय वह एक कर्नल थे। मैंने उन्हें एक जी० सी० ओ० से बातचीत करते सुना। उसने संभवतः उन्हें जनरल के रूप में नहीं पहचाना था और इसी लिए वह काफी असभ्यता से उनके सवालों के जवाब दे रहा था। जनरल ने उसे एक नक्शा दिखाया और रास्तों के बारे में पूछा। उस दक्षिण भारतीय सूबेदार जे० सी० ओ० ने बड़े भद्दे और मजाकिया लहजे में जवाब दिए। हमने उसे टूटी-फूटी हिन्दी में कहते सुना, "जाओ, जाओ, तुम सभी इन रास्तों को जानना चाहते हो, जहां से चीनी आए थे। कहीं भी कोई चीनी नहीं आया, न ही मैंने कोई चीनी देखा।" उसने हमारी थल सेना के बारे में कुछ अपमानजनक टिप्पणी भी की। जनरल के साथ जो व्यक्ति था, उसकी यह हिम्मत नहीं हुई कि वह उनका परिचय दे। जे० सी० ओ० ने सच ही कहा था कि उसके क्षेत्र में कहीं कोई चीनी नहीं मिला था। संभवतः वह अपने वरिष्ठ अफसरों में विश्वास और उनके प्रति सम्मान, दोनों खो चुका था।

हम भैरोगढ़ के विश्रामगृह तक पहुंच गए। हमने देखा कि उसके बाहर बहुत-से लोग जलती आग के इर्दगिर्द बैठे थे। अफसरों के आराम के लिए विश्रामगृह में विशेष प्रबंध था। उन्हें एक-एक कप चाय भी दी गई लेकिन जवानों के लिए कोई बन्दोबस्त नहीं किया गया था। वहां पहले से मौजूद हमारे ए० क्यू० तथा दल के कुछ अफसरों ने ताना दिया, "वह कितनी उम्दा लड़ाई थी! प्रसिद्ध चौथी

डिविजन लड़ाई के बाद वापस लौटी है !" आदि।

जब बाहर टेंट में बैठे कुछ लोगों ने जलानेवाली लकड़ी मांगी तो उन अफ़सरों ने कहा कि वे अपने अद्भुत साहसिक कार्य के बाद अग्नि की गर्मी प्राप्त करने के काबिल नहीं रहे हैं। अचानक क्रोध या शायद जनून के कारण कुछ जवानों ने अपनी राइफलें तोड़ डालीं और उनका लकड़ी वाला भाग जलाकर आग तापने लगे। कुछ वरिष्ठ अधिकारी इस दृश्य को देख रहे थे, लेकिन हम लोग अनुशासनहीनता की उस सीमा तक पहुंच चुके थे, जहां कोई भी जवानों के खिलाफ़ कार्रवाई करने की हिम्मत नहीं रखता था। हममें से कुछ लोग जवानों के पास गए और उनसे पूछा कि राइफलें तोड़ देने से उन्हें क्या मिलेगा। उनकी अपनी निजी शिकायतें थीं।

उनमें से कुछ को अपने साथियों की हरकत पर शर्म महसूस हो रही थी। कुछ लोगों में अनुशासन की भावना ज़रूर कम हो गई थी, लेकिन ऐसा अनेक कठिनाइयों और दबावों के कारण हुआ था। अधिकारियों के प्रति उनकी सम्मान भावना लगभग नष्ट हो चुकी थी। कुछ ऐसे उदाहरण हमारे सामने आए थे, जब पूर्णतया प्रशिक्षित कनिष्ठ सैनिकों ने वरिष्ठ अफसरों के प्रति अपने विचारों को खुलेआम प्रकट किया था। इस तरह की घटनाएं युद्ध के दबावों के दौरान हो सकती थीं। दिलचस्प बात है कि इन दबावों का प्रभाव सभी स्तरों पर, सभी लोगों के दिलोदिमाग पर कमोबेश रूप में देखने को मिला।

चारद्वार को प्रस्थान

असम के मैदानी क्षेत्र में पहुंचने पर मेरे पास कुल एक पिस्तौल, एक दिशामापी यंत्र, एक दूरबीन, एक नक्शा तथा पहने हुए वस्त्र बचे थे। वाहनों में सवार होकर हम विश्राम-शिविर क्षेत्र में चारद्वार में अपने अस्थायी ठिकाने को चल दिए। जब हम पीछे हट रहे थे, चीनियों ने इकतरफा युद्ध विराम की घोषणा कर दी। इस विस्मयकारी कदम के अनेक कारण बताए गए। कारणों का अनुमान तो लगाया जा सकता है, लेकिन सच्चाई जानने के लिए शोध और विस्तृत विवेचन की ज़रूरत है। खुफ़िया एजेंसियां काफ़ी शक्तिशाली संगठन होती हैं। वे युद्ध नियोजित कर सकती हैं, साझी के काम में एक हो सकती हैं, और उतनी ही जल्दी अलग भी हो सकती हैं। पूरे वाकये की ज़्यादा गहराई से जांच की जानी चाहिए।

वापस लौटने पर हमें मेजर जनरल पठानिया के उच्च शक्तिप्राप्त दल के बारे में कई दिलचस्प कथाएं सुनने को मिलीं। इसी दल ने सबसे पहले भागने वाली फौज का नेतृत्व किया था। इस उच्च शक्तिवाले दल में जनरल के साथ वरिष्ठ और श्रेणी-दो के सैन्य-परिचालन स्टाफ अफसर थे—ले० कर्नल मनोहरसिंह (अब ब्रिगेडियर), मेजर नरिंदरसिंह (अब मेजर जनरल), गुरबख्शसिंह

गिल (बाद में मेजर जनरल), ब्रिगेडियर चीमा (अकेला बदकिस्मत अफसर जिसे फिर से निचले पद पर भेज दिया था), ले० कर्नल नंदा (बाद में मेजर जनरल), आदि। इनके साथ और भी कई स्टाफ अफसर थे जिन्हें भागने की योजना का आभास मिल गया था। ऐसी योजना चुपचाप आयरेशनल स्टाफ द्वारा बनाई जा रही थी, लेकिन उन अफसरों को, चौकन्ने रहने की वजह से, सब हालचाल मालूम हो गया था। उनके अनुसार जनरल ने हमेशा, यहां तक कि भागते हुए भी, जनरल जैसा ही व्यवहार किया। थकने पर भी उन्होंने कभी अपनी थकान जाहिर नहीं होने दी। जब उन्हें आराम की जरूरत होती, वह अचानक रुक जाते और सोचने लगते कि चीनियों के खिलाफ प्रतिरक्षात्मक मोर्चे के लिए अमुक ठिकाना कितना उपयुक्त होगा। उन्हें इस बात का विशेष ध्यान रहता कि उनके कपड़े खराब न हों। इसलिए नदी पार करते समय वह हमेशा अपनी पैंट चढ़ा लेते।

वरिष्ठ स्टाफ अफसर के विषय में एक किस्सा काफी दिलचस्प है। यह अफसर जनरल की अनुमति के बिना वरिष्ठ चिकित्सा अफसर के साथ भागने वाले दल से आगे निकल गया। जाते समय वह एक पुर्जा छोड़ गया, जिसपर लिखा था कि वह अगले पड़ाव के लिए उपयुक्त स्थान खोजने जा रहा है। कहते हैं, जनरल ने इसपर यह टिप्पणी की थी, "वह इतनी तेजी से भाग रहा है मानो चीनी उसकी···" जाहिर है, वरिष्ठ अफसर ने जनरल के कानों में यह बात जोर देकर डाली थी कि वह तेज भागें नहीं तो जल्दी ही चीनियों के घेरे में होंगे।

अध्याय 8

चारद्वार में पड़ाव

24 नवंबर की शाम को देर गए हम चारद्वार पहुंच गए। हमें तो अभियान को शेष करने की बड़ी जरूरत महसूस हो रही थी। अतः एक सेफ्टी रेजर खरीदने के लिए हम तेजपुर गए। वहां उस समय सभी दुकानें बंद थीं। स्थानीय पुलिस से हम एक दुकान को खुलवा पाए। हमें [illegible] की कीमत [illegible] एक सेफ्टी रेजर के आठ रुपये देने पड़े। जैसाकि अक्सर होता है, व्यापारी लोग राष्ट्रीय संकट का मनमाना लाभ उठा रहे थे।

चारद्वार में हमें 5 इन्फैंट्री डिवीजन से अलग रखा गया। यह डिवीजन मिसामारी पहुंचकर फुट हिल्स पर प्रतिरक्षात्मक मोर्चा लेने के लिए रवाना हो चुकी थी। हमें पता चला कि 5 इन्फैंट्री डिवीजन को पश्चिमी से पूर्वी क्षेत्र में भेजने के लिए अमेरिका ने विशेष विमान उपलब्ध कराए थे। डिवीजन को बहुत जल्दी यहां लाया गया था। अंततः [illegible] से बचने के लिए बीमार पड़ गए थे। हमारे यहां अपनी [illegible] के बल पर बीमारी का बहाना करते रहने वाले [illegible] की कोई कमी नहीं है। इन्हीं लोगों की [illegible] से हो जाती है। [illegible] राष्ट्रीय जीवन में [illegible] है, [illegible] भी अपनी [illegible] है।

रूप में स्वयं को दुनिया में प्रतिष्ठित किया था, विवश होकर सैनिक गुटबंदियां बनाने वाली ताकतों के आगे मध्यस्थता और बीच-बचाव के लिए हाथ फैलाना पड़ा।

चारद्वार में हमें पता चला कि सातवीं कैवलरी के मेजर जमवाल पहले ही संवाददाता सम्मेलन बुलाकर अपनी टुकड़ी की वीरता और साहस की तारीफ के पुल बांध चुके हैं। उन्होंने संवाददाताओं को बताया था कि तादाद में बढ़ते चीनियों को उनके टैंकों ने कैसे मार गिराया था, और अंत में अपने टैंकों को नष्ट कर उन्होंने पीछे हटने का फैसला किया था।

मैं बता चुका हूं कि हमने कैसे टैंकों को गोला-बारूद से भरा और उन्हें उनके अफसरों और चालकों द्वारा बेसहारा छोड़ दिया पाया गया था। इन टैंकों पर बाद में चीनियों का अधिकार हो गया था, जिन्होंने एक भी गोली छोड़े बिना उन्हें पा लिया था। यदि पीछे बची फौज से चीनियों की मुठभेड़ हुई होती और वह उसमें नष्ट हो जाती तो मेजर जमवाल राष्ट्रीय योद्धा बन गए होते। पर जब असलियत का प्रचार होना शुरू हुआ तो उन्हें एक उपेक्षणीय नियुक्ति पर भेज दिया गया। छोटे अफसर को अनैतिक काम की सज़ा तुरंत दे दी गई थी। लेकिन उच्च अफसर जो कि असली मुजरिम थे, कुछ शक्तिशाली तत्त्वों की कृपा से निरापद छूट गए थे। इन तत्त्वों ने उन्हें खूबसूरती से बचा लिया था। ऐसे भी अनेक बहादुर अफसर और जवान थे जिन्होंने सबके भाग आने के बाद गोला-बारूद के भंडारों तथा चौकियों पर अंत तक पहरा दिया और वहीं वीरगति को प्राप्त हो गए। ये लोग अज्ञात ही रह गए। एक दिन हम अपने बीमार ब्रिगेड मेजर को देखने अस्पताल गए। हमें वहां एक गैरकमीशन अफसर का पता चला। वह अपने एक घाव का इलाज कराने अस्पताल आया था। रास्ते में कहीं गिर जाने से उसे चोट लग गई थी। मार्ग में कोई तात्कालिक चिकित्सा न हो सकने के कारण ज़ख्म संक्रमित हो गया और अब उसमें कीड़े पड़ गए थे। उसकी दशा काफी बिगड़ चुकी थी, अतः अस्पताल में आते ही उसे तुरंत आपरेशन के लिए मेज़ पर लिटाया गया। लेकिन वह आपरेशन को बर्दाश्त नहीं कर सका और मेज़ पर ही चल बसा। डाक्टरों को आश्चर्य था कि वह इतने लम्बे समय तक जीवित कैसे रहा। शायद उसकी दृढ़ इच्छा ही थी जो उसे यहां तक खींच लाई थी। प्रकृति के ढंग निराले हैं। रास्ते भर वह अपनी दृढ़ इच्छा के सहारे जीवित रहा लेकिन संभवतः डाक्टरों के हाथों में पहुंचकर उसकी वह इच्छा-शक्ति खत्म हो गई और प्रकृति ने अपना काम पूरा किया। चारद्वार के शिविर में चीनियों के साथ हमारी मुठभेड़ को लेकर तरह-तरह की कहानियां फैली थीं—कैसे चीनियों की बाढ़ पर बाढ़ आई और उसने संभागीय मुख्यालय पर हमला किया तथा कैसे हमारे टैंकों ने सैकड़ों चीनियों को मार डाला, और कैसे हमारी सेनाएं चीनियों की अपेक्षाकृत

बड़ी फौज से घिरने के बाद वहां से पीछे हटी, आदि। संभवत. पहले भागकर आने वालों ने सोचा था, उनके अलावा और कोई नहीं बचा है जो सच्चाई बता सकेगा। मुझे यह भी पता चला कि जन० पठानिया ब्रिगे० चीमा से एक लिखित बयान लेने में भी कामयाब हो गए थे। जड़ावस्था में दिए गए इस बयान में ब्रिग० चीमा ने हार की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली थी। उन्होंने बाद में मुझे बताया था कि दबाव में आकर उन कागजों पर दस्तखत करने का उन्हें भारी अफसोस था। वह एक सादे और विनीत सिपाही थे, जिन्होंने अन्य लोगों के विपरीत, अपनी गलती मान ली थी। शायद यह बात उन्हें अंत तक कचोटती रही क्योंकि मैदानी क्षेत्रों में हमारी वापसी के बाद वह रात-रात जागते देखने गए थे। वह अक्सर घबराहट महसूस होने की शिकायत भी करते थे।

एक दिन मैं हाल ही में पहुंची 5 इन्फैंट्री डिविजन के तोपखाने के कमांडर ब्रिगेड लार्टकिंस से मिला। हम लोग देवलाली में साथ-साथ रहे थे। उन्होंने मुझे चारद्वार विश्रामगृह में अपने कमरे में आने को कहा। वह जानना चाहते थे कि क्या हुआ था। खास तौर से चीनियों की सैन्य चालों, दांव-पेंचों तथा उनके भारी हमलों के विषय में वह जानना चाहते थे जिसके बारे में संभवत: उन्होंने काफी सुना था। उन्हें हकीकत सुनकर बड़ा अफसोस हुआ। उन्होंने मुझसे सलाह दी कि जो कुछ मैंने देखा था या उन्हें बताया था, उसकी चर्चा कहीं न करूं। मुझे लगा कि ऊंचे पद पर पहुंच जानेवाले व्यक्ति के लिए सच्चाई की कोई कीमत नहीं है, या शायद वह मुझे तत्कालीन वातावरण में व्यावहारिक सलाह दे रहे थे।

चारद्वार से मैंने सिकंदराबाद और दूसरे स्थानों पर अपने निष्ठावान सैनिक मित्रों को कई पत्र लिखे। मुझे उनके जवाबी पत्र तुरंत मिलने लगे कि उन तक शायद ही कोई जानकारी पहुंच सकी क्योंकि पत्रों को सेंसर कर दिया गया था। मैंने जानबूझकर उन पत्रों को गैर-सैनिक डाकघर से पोस्ट किया था ताकि वे सेंसर से बच सकें, और इस प्रकार बाहरी दुनिया को मालूम हो जाए कि यदि चीनी मैदानी क्षेत्रों में भी आने का फैसला कर लें तो क्या कुछ हो सकता है।

यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही थी कि हम गैर-सैनिक पत्रों तक का तो सेंसर करने पर तत्पर थे, लेकिन देश की सुरक्षा के लिए तत्पर नहीं थे।

इस तरह के विचारों को प्रकट करने वाला मैं अकेला व्यक्ति नहीं था। अनेक अफसरों ने जिनमें मेजर और नीचे के अफसर शामिल थे, अपने मित्रों को पत्र लिखे थे, लेकिन उनका भी वही अंत हुआ जो मेरे पत्रों का हुआ था। लेकिन तब तक काफी देर हो चुकी थी। यदि भारतीय सेना में विचार प्रकट करने की कुछ आजादी होती, और यदि अखबारों ने असलियत जानने के लिए कुछ कष्ट

किया होता तो नेफा पराजय की कहानी दूसरी होती। नवंबर के शुरू में अखबारों में छपी खबरों में बताया गया था कि नेफा में हमारा सुरक्षात्मक मोर्चा कितना मजबूत है। देश को फिर विश्वास दिलाया गया कि चीनियों से सख्ती से निपटा जाएगा।

संभागीय मुख्यालय की बैठकें

क्योंकि ब्रिगेड मेजर छुट्टी पर था, मैंने चारद्वार के संभागीय मुख्यालय पर कुछ बैठकों में भाग लिया। इनका संचालन जी० एस० ओ०-1 करते थे। यह वही अफसर था जो अपने ही जनरल आफिसर कमांडिंग को पीछे छोड़ डिरांग जोंग से भाग आया था तथा जिसका ज़िक्र दलवी और कौल ने भी अपनी किताबों में किया है। मैंने इसकी डिरांग की भी कुछ बैठकों में भाग लिया था और हमेशा इसे तनावग्रस्त पाया था।

ऐसी ही एक बैठक में जी० सी० ओ०-1 ने फिर से अपना रौब जमाने का प्रयास किया। उन्होंने जोर देकर कहा कि सभी लोगों को डिविजन को पुनर्व्यवस्थित करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। कहीं भी कोई कमी न रहे। डिविजन वास्तव में अपना सब कुछ गंवा चुकी थी। सभी वाहन, बंदूकें, वायरलेस उपकरण, भंडार, तंबू आदि गुम चुके थे। हम सिर्फ अपने पहने हुए वस्त्र और कुछ व्यक्तिगत हथियारों के साथ ही आ पाए थे। जी० एस० ओ०-1 ने कहा कि वह सामान की आपूर्ति की समस्या जल्दी ही हल कर देंगे। उन्होंने बताया कि शीघ्र ही हमें एक अज्ञात स्थान के लिए चलना होगा जहां यह सब होगा। उन्होंने यह भी कहा कि वह किसी प्रकार की अक्षमता बर्दाश्त नहीं करेंगे। बैठक के बाद जी० एस० ओ०-1 की निंदा हो रही थी जो स्वयं एक काल्पनिक युद्ध से बचने के लिए अपने जनरल तक को छोड़कर भाग निकले थे। हमें पता चला कि जनरल उनका कोर्ट मार्शल करना चाहते थे, लेकिन उनकी पहुंच जनरल से भी ज्यादा थी। बाद में उन्होंने अपने लिए जनरल डिफेंस अकादमी, पूना में प्रथम श्रेणी के प्रशिक्षक के आकर्षक पद का भी बंदोबस्त कर लिया था। देश को नीचा दिखाने में बड़ा योगदान देने वाले के लिए यह सही पुरस्कार था। बाद के वर्षों में उन सभी जनरलों ने उनका अच्छा ध्यान रखा जिनके नीचे उन्होंने काम किया था। उन्हें ब्रिगेडियर तक बना दिया गया। वह मेजर जनरल बनने जा रहे थे, लेकिन तभी 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान उन्हें शकरगढ़ में कुछ संदिग्ध गतिविधियों के आरोप में पकड़ लिया गया।

मैं इस अफसर के विषय में इसलिए लिख रहा हूं क्योंकि हमारी हार के लिए जिम्मेदार लोगों में एक प्रमुख व्यक्ति वह था। इसका उल्लेख किसी भी लेखक ने अपनी पुस्तक में नहीं किया है। तत्कालीन प्रवृत्ति का लाभ उठाते हुए कौल ने

नेहरू, मोरारजी देसाई, कृष्ण मेनन, और जनरल सेन को ऐसी ठहराना पर कुछ जिम्मेदारी खुद वहन कर ली। हिंडर्सन रपट ने 1962 की हार के लिए राज-नैतिक और सैनिक तन्त्र चलाने को दोष दिया। स्वार्थी शक्तों ने कोशिशों कर इस घिनौने कांड के असली मुजरिमों को सफाई से बचा लिया। इस बारे में ज्यादा कुछ एक अगले अध्याय में दिया गया है।

अध्याय 9

पुरस्कारों और सत्कारों की होड़

हमारी ब्रिगेड का एक अग्रिम दल पहले ही रांची के लिए प्रस्थान कर चुका था। अब हमें भी दिसम्बर, 1962 के आरंभिक दिनों में रांची जाने के लिए उचित निर्देश और गाड़ियां मिल गईं। 4 इन्फेंट्री डिविज़न को अन्य लड़ाकू फौजों से अलग रखने के लिए बाहर भेजा गया था। ये फौजें एक सुरक्षात्मक कदम के रूप में अब तक असम और उत्तरी तेज़पुर के मैदानी इलाकों में तैनात की जा चुकी थीं। यह कदम चीनियों को असम के मैदानी क्षेत्रों तक आने से रोकने के उद्देश्य से उठाया गया था। जनरल कौल के अनुसार, जैसाकि उन्हें जन० थोरेट ने बताया था, जब जनरल चौधरी ने सेनाध्यक्ष का पद भार संभाला तो वह काफी चिंतित थे। उन्होंने महसूस किया था कि चीनी मैदानी क्षेत्रों तक उतर आने का फैसला कर सकते हैं। यदि ऐसा हुआ तो हम क्या करेंगे? यह सोचकर वह काफी परेशान थे। यह चिंता बाकी उच्च कमांडरों को भी थी। उन्हें अब भी यह एहसास नहीं हुआ था कि चीनियों को नेफा के पहाड़ों में ही करारी हार दी जा सकती थी, क्योंकि ज़रा-सी कल्पना से चीनियों द्वारा लाई गई कितनी ही बड़ी सेना को उनके पीछे लौटने के मार्ग को काट कर फांसा जा सकता था। इस सैन्य चाल को अनेक सेनाओं द्वारा प्रयोग में लाया जा चुका था जिनमें से बर्मा के युद्ध में भाग लेने वाली ब्रितानी भारतीय सेना भी एक थी। पर शायद हमारे जनरल इतिहास और अनुभव से कोई सबक नहीं सीखना चाहते थे।

रांची पहुंचने के बाद शौर्य पुरस्कारों की चर्चा बड़े ज़ोर-शोर से शुरू हो गई। चारद्वार में ही मेजर सुरजीत बराड़, आफीसर कमांडिंग सिगनल कम्पनी ने मुझसे कहा था कि वह मेरा नाम महावीर चक्र के लिए रख रहे हैं तथा मैं भी उनके लिए वीर चक्र की अनुशंसा कर सकता हूं। ये वही अफसर थे जो मेरे साथ वापस छोड़ दिए गए वाहनों को निकालने के लिए डिरांग स्थित ब्रिगेड कैंप तक गए थे। मुझे उनके सुझाव पर आश्चर्य और अफसोस दोनों ही हुए। मैंने उनसे पूछा कि हमने ऐसा किया ही क्या है जो हम पुरस्कार की बात सोचें? मुझे

बल्कि ई० एम० ई० के एक लांसनायक धनपाल के लिए बड़ी ग्लानि हो रही थी, जिन्होंने मेरे आदेश पर एन० एम० जी० पोजीशन ली थी। बाद में जब हमने संदेश भेजा था कि गोला-बारूद खत्म होने के बाद सभी लोग पीछे लौटने के लिए हमसे आ मिलें, तो वह नहीं पहुंचा था।

लगता था, या तो उसने अपनी बहादुरी और दृढ़ संकल्प की वजह से अपनी पोजीशन न छोड़ने का फैसला किया था अथवा वह चीनियों द्वारा पकड़ लिया गया था। उसे चारद्वार में देखकर ही मुझे तसल्ली हुई थी। मुझे पता चला कि उसे वापस आने में कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। यह वही आदमी था जिसने एक जवान द्वारा फेंकी हुई हल्की मशीनगन उठाकर मेरे आदेश पर एक पोजीशन ली थी। उसे मैंने चीनी गश्ती दलों के ठिकानों पर नजर रखने तथा जवाब में गोली चलाने का निर्देश दिया। कुछ अन्य लोगों के साथ उसका नाम भी वीरता पदक के लिए अनुशंसित किया गया। इससे संकेत मिलता था कि 18 नवंबर, 1962 को सुबह घिर आए काले बादलों में अभी भी कुछ प्रकाश बाकी था। हम उसके बड़े ऋणी थे। लेकिन बड़े काम करने वाले इन छोटे लोगों में कोई दिलचस्पी नहीं लेता था। मैं सिर्फ इतना कर सकता हूं कि उनकी बहादुरी को रेखांकित के रूप में दर्ज कर दूं। इन लोगों में महार एम० एम० जी० बटालियन के लांसनायक प्रेमसिंह, ई० एम० ई० के लांसनायक धनपाल, मद्रास रेजीमेंट के सूबेदार विनयागम और ब्रिगेड सिगनल कम्पनी के नायक प्रेमसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

मुझे विश्वास है कि उनके जैसे और भी अनेक सैनिक थे, जिन्होंने यह सिद्ध किया था कि भारतीय अफसरों और जवानों में उससे कहीं ज्यादा बहादुरी और हिम्मत मौजूद थी, जितनी उन्हें दिखाने का मौका दिया गया। इन्हींमें से एक कैप्टन रावत को मैं जानता हूं, संभागीय मुख्यालय का यह जनरल स्टाफ अफसर 3 (परिचालन) अपने ही ढंग से ताकत जुटाने में लगा रहा और हमेशा यह प्रयास करता रहा कि पूरे अभियान में वह कितना योगदान दे सकता है। मुझे मालूम है कि कैप्टन रावत को वीरता पुरस्कारों की कोई परवाह नहीं थी। काफी बाद में मुझे उससे पता चला था कि लौटते वक्त उसकी चीनी गश्ती दल से हल्की मुठभेड़ हुई थी। इससे पूर्व संभागीय मुख्यालय के एक अफसर (जो डिराग में चीनियों की रणनीति के बारे में दूसरे लोगों को प्रभावित करने की कोशिश कर रहा था) ने खबर दी थी कि कैप्टन रावत या तो गोली से मर चुके हैं अथवा गायब हैं।

जैसे ही हमारी ब्रिगेड की विभिन्न इकाइयों में पास वीरता पदकों की अनुशंसा भेजने संबंधी पत्र पहुंचा, भारी तादाद में अनुशंसाएं आने लगीं। एक दिन कमांडिंग अफसर, जो ब्रिगेड कमांडर का काम देख रहे थे, ने मेरे दफ्तर में उमीन

पर लगे कागज़ों के एक ढेर के वारे में पूछा। मैंने उन्हें वताया कि वे विभिन्न इकाइयों से प्राप्त वीरता पदकों की अनुशंसाएं हैं। मैंने उन्हें यह भी वताया कि उनकी वटालियन से एक भी अनुशंसा नहीं मिली है। उन्होंने अन्य यूनिटों के वारे में कुछ अपमानजनक टिप्पणी की। मैंने उन्हें हल्के दिल से कहा कि उन्हें भी कम से कम कुछ दर्जन प्रशंसा-पत्र अवश्य भेजने चाहिए, अन्यथा उनकी टुकड़ी वदनाम होगी। उन्होंने मेरी टिप्पणी को गलत समझा और महसूस किया कि रणक्षेत्र में उनकी वटालियन की भूमिका पर मैं व्यंग्य कस रहा हूं। हालांकि यह वात काफी ठीक भी थी क्योंकि वह अपनी वटालियन को लड़ने का एक भी मौका दिए विना सही-सलामत निकाल लाए थे। प्रशंसा-पत्रों को वाद में दो वड़े वंडलों में वांधकर दो अर्दलियों द्वारा अग्रिम कार्रवाई के लिए संभागीय मुख्यालय पहुंचा दिया गया। यह विडंवना ही थी कि तव तक हमें 4 राजपूत वटालियन से कोई अनुशंसा प्राप्त नहीं हुई थी। न ही उनके वहादुर कमान अफसर कर्नल अवस्थी के लिए ही कोई अनुशंसा की गई, जो युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ था। हमारी थल सेना में अजीव प्रक्रियाएं हैं जिनके तहत वीरता पुरस्कार प्राप्त करना एक वढ़िया चालवाजी का काम है। हमें प्राप्त अनुशंसाओं में ढेरों परमवीर चक्र, महावीर चक्र और वीर चक्र शामिल थे। एक वटालियन के तो सभी अफसरों और अधिकांश जूनियर कमीशन अफसरों की किसी न किसी वीरता पदक के लिए उनके कमान अफसर ने अनुशंसा कर दी थी जवकि वहुत कम संख्या में गैर-कमीशन अफसरों (एन० सी० ओ०) और जवानों के लिए अनुशंसाएं की गई थीं। मुझे पता चला था कि यह कमान अफसर सैन्य कार्रवाई और अपनी वटालियन की भूमिका पर चर्चा तक करने में हिचकिचाता था। केवल व्रिगे० होशियारसिंह की मृत्यु की पुष्टि के वाद ही उसने अपने वटालियन अफसरों और जूनियर कमीशन अफसरों की वहादुरी की वात शुरू की।

रांची पहुंचने के फौरन वाद वहां के नागरिकों ने 4 इन्फेंट्री डिविजन के स्वागत में एक पार्टी देने का फैसला किया। उन्होंने डिविज़न के लगभग हर व्यक्ति को आमंत्रित किया। पार्टी एक वहुत वड़े खुले मैदान में आयोजित की गई थी, जहां हज़ारों आदमी समा सकते थे। पार्टी के आयोजन में काफी पैसा खर्च किया गया था। अफसरों और जवानों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए रांची के प्रमुख नागरिक उपस्थित थे।

हमारे वरिष्ठ अफसर ने हमें वड़े चालाक तरीके से वताया कि सरकार और राजनीतिज्ञों ने कभी भी आरक्षी सेनाओं की ढंग से देखभाल नहीं की। चीनियों के हाथों हमारी फौज की हार पर पर्दा डालने के लिए सरकार को दोषी ठहराया जा रहा था कि उसने सिपाहियों को जूते, कपड़े, सही हथियार आदि प्रदान नहीं किए। इस तरह नागरिक प्रशासन और आरक्षी सेनाओं के वीच मतभेद पैदा

करने का प्रयास किया जा रहा था। मैं इस बात से भी थोड़ा घबराया हुआ था कि सैनिक कभी उच्च कमान के प्रति और कभी नागरिक प्रशासन के प्रति क्यों क्रोधित हैं और अक्सर अवहेलना या प्रदर्शन क्यों करते हैं। बहुत संभव है, सिपाहियों के बीच इस बारे में कुछ भ्रमपूर्ण प्रचार किया जा रहा हो। हमारे यहां कोई ऐसी प्रति-गुप्तचर एजेंसी नहीं है जो सेना के भीतर हो रही गुप्त कार्रवाइयों का पता लगा सके। जो है, वह भी पर्याप्त सक्षम नहीं है। कुछ स्थानों पर सैनिकों ने नागरिकों के आतिथ्य और उनकी मदद स्वीकार करने से साफ इनकार कर दिया था। वे नागरिक प्रशासन के प्रति अपनी नाराजगी का इजहार कर रहे थे, जो उनकी नजर में सेना की हार के लिए जिम्मेदार था। मैंने ऐसे दृश्य बरौनी, सिलीगुड़ी और दूसरे स्थानों पर देखे थे, ऐसे दृश्य हालांकि इक्के-दुक्के ही दिखाई देते थे, पर इनसे उन दिनों की एक अजीब प्रवृत्ति का संकेत मिलता था।

अपने जनरल का राष्ट्रीय योद्धा के रूप में स्वागत होते देखकर हममें से अधिकांश लोगों को शर्मिन्दगी महसूस हुई। यह वही जनरल था जो अपनी चमड़ी बचाने के लिए पूरी डिविजन को पीछे छोड़कर सबसे पहले भाग निकला था। इन्हें एक खुली जीप में चढ़ाया गया। इर्द-गिर्द प्रमुख नागरिक खड़े थे। उपस्थित जनसमूह हाथ हिलाकर जनरल की जय-जयकार कर रहा था। बदतर बात यह थी कि उनकी जीप चलते वक्त बहुत ज्यादा धूल उड़ा रही थी। यह बात हमें काफी चुभी।

रांची के नागरिकों ने निश्चय ही हमारा बहुत बड़ा स्वागत किया था। संभवत हमारे नैतिक बल को बढ़ाने के लिए या शायद अपने ही नैतिक बल को बढ़ाने के लिए। 40 करोड़ से ज्यादा जनसंख्या वाला और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान दुनिया-भर में अपना लोहा मनवा लेने वाली थल सेना का स्वामी भारत-वर्ष अचानक स्वयं को ताश की गड्डी की तरह टूटा हुआ अनुभव करने लगा था।

लेकिन हम लोग, जिन्होंने देश की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाई थी, स्वयं को अपमानित महसूस कर रहे थे। पराजय के लिए खासतौर पर जिम्मेदार जनरल का अपार स्वागत हो रहा था। जनरल शायद नागरिकों के उत्साहपूर्ण स्वागत को स्वीकार करने से इनकार नहीं कर सकते थे, जबकि हममें से अनेक लोगों को बड़ा संकोच हो रहा था।

सेना के महत्त्वपूर्ण अधिकारी रांची आ रहे थे। हर अधिकारी का आगमन कुछ स्पष्ट और सही उद्देश्यों के लिए ही हो रहा था। हमारे पहुंचने के कुछ समय बाद ही ब्रिगेडियर पेंटिजन मुख्यालय पधारे। वह इंडियन मिलिटरी अकादमी में मेरे प्रशिक्षक रह चुके थे। उसके बाद भी मेरी उनसे कई बार भेंट हुई थी। कमान मुख्यालय के सिगनल अधिकारी की हैसियत से वह यह पता लगाने आए

थे कि आखिर युद्ध के समय सिगनल संचार यंत्र में क्या खराबी हो गई थी। एक सिगनल मैन के लिए उसके वायरलेस सेट का उतना ही महत्त्व होता है जो एक पैदल सिपाही के लिए निजी हथियारों का तथा तोपची के लिए तोप का होता है। इतना बड़ी फौज द्वारा एक भी सिगनल उपकरण वापस नहीं लाया गया। आखिर क्यों ?

ब्रिगेड कमांडर की अनुपस्थिति में, जिन्हें हटा दिया गया था, तथा ब्रिगेड मेजर के अवकाश पर होने के कारण मैंने उनके साथ कुछ सिननल कर्मचारियों का साक्षात्कार आयोजित किया। एक सिगनल मैन, एक वरिष्ठ सिगनल एन० सी० ओ० तथा कुछ और लोगों से पूछताछ की गई। यह साक्षात्कार कुछ इस तरह से हुआ :

मुख्य सिगनल अधिकारी—सिगनल मैन, तुम तो वायरलेस आपरेटर थे। तुम अपना वायरलेस सेट क्यों नहीं निकाल कर ला सके ? तुम्हारा वायरलेस सेट आखिर गया कहां ? क्या तुम नहीं सोचते कि वायरलेस सेट को अपने साथ लाना तुम्हारा पहला फर्ज था ?

सिगनल मैन—साहब, असल में वहां इतनी बम-वर्षा और गोलाबारी हो रही थी कि हम कुछ भी नहीं निकाल सके। चीनी हमपर लगातार हमला कर रहे थे। हम बड़ी मुश्किल से वहां से भाग पाए। हमें तुरन्त भाग आने का हुक्म मिला था, इसलिए हमें सेट को उठाने का वक्त ही नहीं मिला।

बाद में सिगनल मैन ने वापसी यात्रा की कठिनाइयां सुना डालीं। उसने यह भी बताया कि वापस आने से पहले उसने सिगनल उपकरण को नष्ट कर दिया था।

मुख्य सिगनल अफसर ने यही सवाल वरिष्ठ गैर-कमीशन अफसरों तथा कुछ जूनियर कमीशन अफसरों सहित बाकी सिगनल कर्मचारियों से भी किया। उन्होंने भी वैसा ही जवाब दिया। उनके अनुसार यह सब 18 नवम्बर, 1962 को काफी सुबह हुआ।

मैं उनकी बातों से हक्का-बक्का रह गया। मैं भी डिरांग स्थित ब्रिगेड मुख्यालय पर उपस्थित था। उसके बाद मैं उन्हींके कमान अफसर मेजर बराड़ के साथ भी वहां लौटा था। किन्तु हमें उस दिन सुबह के दस बजे तक कहीं कोई गोलाबारी नजर नहीं आई। इसके बाद हम डिरांग जोंग गांव वापस आए थे। हमें शायद ही कहीं चीनियों का हमला और गोलाबारी नजर आई थी। जाहिर है, कहीं कोई बड़ी गड़बड़ थी। या तो वे मति-भ्रम के शिकार हो गए थे अथवा उन्हें जानबूझकर सफेद झूठ बोलने के लिए तैयार किया गया था। यदि इसके लिए उन्हें सिखाया-पढ़ाया गया था तो निश्चय ही यह काम बहुत चुपचाप किया गया होगा क्योंकि मुझे तो किसीने ऐसा बोलने के लिए तैयार करने की कोशिश नहीं

थी। हालांकि जब मैंने अपनी कहानी को किसी उच्च कमांडर को सुनाया तो अविश्वास में उनकी भृकुटि अवश्य चढ़ गई थी। पर मुझे बड़ा अचंभा हो रहा था कि एड़ी से चोटी तक पूरी तरह सिपाही दिखने वाले वे चुस्त-दुरुस्त कर्मचारी कैसे ऐसा सोच सके थे! मैंने उनसे उस समय पूछा था कि उन्हें इतनी बमबारी और गोलाबारी कहां से दिख गई थी, जब मैंने ऐसा कुछ नहीं देखा—सिवाय एक धुएं वाले बम की कुछ चिंगारियों के और एक गोला छूटने की आवाज के। वे मुझसे आंख नहीं मिला सके थे।

जाहिर है, इसके लिए सेना के अधिकारियों द्वारा की जा रही जांच-पड़ताल से कहीं ज्यादा गंभीरता से विश्लेषण किए जाने की जरूरत थी।

बाद में मुझे कई अफसर मिले, खासतौर से उच्च पदाधिकारी जो जनरल आफिसर कमांडिंग की चौकियों से हुई मुठभेड़, चीनियों द्वारा मारे मार्टर और तोपों से की गई गोलाबारी, संभावित मुख्यालय पर मार्टरों से किए गए हमले और डिविजन के खिलाफ चीनियों की रणनीति के दाव-पेचों की चर्चा करते नहीं अघाते थे। यह बात नेफा जांच में भी सामने आई होगी। यह सब उन अफसरों ने अनुमानतः 18 नवम्बर, 1962 को काली सड़के देखा था। यह पूरी तरह से नियोजित और मनगढ़ंत कहानी लगती थी जिसे अपने स्वार्थवश सच्चाई पर पर्दा डालने के लिए कुछ लोगों ने तैयार किया था। भूल तभी सुधर सकती है, जब सच्चाई मालूम हो, चाहे कितनी ही बड़ी भूल क्यों न हो। ऐसे आचरण से गुरेज़ करना चाहिए। एक आगामी अध्याय में मैंने इसका विस्तृत विश्लेषण करने का प्रयास किया है।

रांची में हमें आए कुछ ही हफ्ते हुए थे कि हमें फिरोजपुर के लिए कूच करने का हुक्म मिल गया। रांची प्रवास की अवधि कम कर दी गई थी। सिर्फ तीन महीनों के भीतर 65 इन्फैंट्री ब्रिगेड जो अल्प अधिसूचना पर सिकंदराबाद से चली थी, नेफा की कार्रवाई खत्म कर असम और रांची होती हुई अब फिरोजपुर के लिए रवाना हो चुकी थी। मुझे बाद में यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि पाकिस्तान के खिलाफ 1965 की लड़ाई में इसकी भूमिका उल्लेखनीय रही। 1962 में अर्जित अवमानना की कुछ हद तक क्षतिपूर्ति हो गई थी।

अध्याय 10

पराजय का विश्लेषण

भारतीय आरक्षी सेनाओं ने आज़ादी के वाद छः से अधिक युद्धों या सैन्य कार्रवाइयों में हिस्सा लिया है। आज़ादी के फौरन वाद इससे पहले कि भारतीय थल सेना का पुनर्गठन किया जाता अक्तूवर, 1947 में इसे जम्मू-कश्मीर में छापामारों को मार भगाने के लिए तैनात किया गया। इस प्रकार भारतीय थल सेना को शुरुआत में ही खून से खेलना पड़ा। जम्मू-कश्मीर में सैन्य कार्रवाई 14 महीनों तक चली। इसमें राज्य की 1,200 किलोमीटर लंवी सीमाओं पर दो डिविज़नों को काफी कठिन परिस्थितियों में लड़ना पड़ा था। ठंडे मौसम में अक्सर उन्हें ऊंची पहाड़ियों पर सैन्य कार्रवाइयां करनी पड़ती थीं। इन कार्रवाइयों में हालांकि सेना ने प्रतिष्ठा ही अर्जित की थी। इसके वाद चार दिन (13 से 17 सितंवर, 1949 तक) हैदरावाद के खिलाफ तथा फिर 24 दिन तक जूनागढ़ के खिलाफ सैन्य कार्रवाई में हमारी सेना ने भाग लिया।

इसके वाद पांचवें दशक के दौरान नागा विद्रोहियों और इनकी गुरिल्ला गतिविधियों से निपटने के लिए सैन्य कार्रवाई की गई। नागालैंड में सैनिक कार्रवाई अभी तक कमोवेश जारी है। युद्धविराम, वातचीत और फिर से विद्रोही गतिविधियों के भड़कने से यहां सैन्य कार्रवाई चलती ही रहती है। वीस वर्ष से ज्यादा वीत चुके हैं, लेकिन समस्या अभी भी ज्यों की त्यों है। दरअसल जनता और समाचारपत्रों द्वारा इस समस्या पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया है और फलस्वरूप स्थिति का सही मूल्यांकन ही नहीं हो पाता। ऐसी समस्याओं से निपटने के लिए सेना और नागरिक प्रशासन के उच्चाधिकारियों के निजी स्वार्थ और सीमाएं भी आड़े आती हैं। इसी प्रकार 1966 में भड़के मिजो-विद्रोह ने अभी तक सेना और समानांतर आरक्षी संगठनों को व्यस्त रखा हुआ है। कभी-कभी तो उसमें दो डिविज़नों से भी ज्यादा तादाद में सिपाहियों की जरूरत पड़ी है। लेकिन समस्या अभी तक समाधान के विना वरकरार है। कोई नहीं जानता कि विद्रोही कार्रवाइयां कव शुरू हो जाएं।

18 से 20 दिसम्बर, 1961 तक 72 घंटे के भीतर घटी चमत्कारिक घटना भारतीय सेना के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसमें भारतीय सेनाओं ने एक हल्के अभियान में खूबसूरती से एक पश्चिमी ताकत पुर्तगालियों को हरा दिया था। उसका महत्व इसलिए भी ज्यादा है, क्योंकि यह कारवाई करते समय विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप का खतरा बना हुआ था। नाटो का सदस्य होने के नाते पुर्तगाल ने बाहरी मदद की अपेक्षा की थी जो उसे अंत तक नहीं मिली। भारतीय कमाण्डर मेजर जन० एम० एम० खन्ना को किसी शीघ्र निर्णय की आशा नहीं थी। अतः वह इंग्लैंड में इंपीरियल डिफेंस कालेज का कोर्स करने चले गए। उनका स्थान मेजर जन० कैंडेथ ने लिया। शीघ्र हुए फैसले से मेजर जन० खन्ना के दिल को कम तकलीफ नहीं हुई होगी। हालांकि पुर्तगाली सेना भारतीय सेनाओं को कई हफ्तों तक रोक सकती थी क्योंकि उनकी तरफ पानी की काफी कमी और क्षेत्र संबंधी दूसरी दिक्कतें थी, पर पुर्तगाली जनरलों ने अपनी सेनाओं को डुबो डाला। इसके एक वर्ष बाद 1962 में छिड़ी भारत-चीन लड़ाई जिसके विषय में इस समय हम चर्चा कर रहे हैं, काफी शर्मनाक ढंग से खत्म हुई।

1962 की पराजय के बाद 1965 में पाकिस्तान से युद्ध हुआ पर इसमें कोई भी पक्ष निर्णायक परिणामों का दावा नहीं कर सका। एक वक्त तो हमने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। लाहौर भारतीय सेनाओं की मुट्ठी में आ गया था। न केवल हमारी सेनाओं को लाहौर मोर्चे पर अर्जित बड़े क्षेत्र से पीछे हटना पड़ा बल्कि उन्हें अमृतसर के पीछे तक हटकर ब्यास में मोर्चा लेने के निर्देश दिए गए। यह खेमकरन के निकट उत्पन्न हो गए मामूली खतरे से निपटने के लिए किया गया था। साउथ ब्लाक के गलियारों में उन दिनों यह दबी जबान से चर्चा होती थी कि तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व० लालबहादुर शास्त्री ने स्थल सेनाध्यक्ष को काफी डांट पिलाई थी क्योंकि वह भयग्रस्त होकर पीछे हटने की बात कर रहे थे। यह अभी तक रहस्य बना हुआ है। युद्ध में भाग लेने वाले किसी भी व्यक्ति ने उन तथ्यों को प्रकट नहीं किया जिनसे पता चल सकता कि अमृतसर के पीछे (ब्यास तक) हटने का विचार क्यों किया गया था। यह जानकारी ऐतिहासिक दृष्टि से काफी उपयोगी होती।

1971 का भारत-पाक युद्ध भारतीय थल सेना के इतिहास में शानदार अध्याय के रूप में याद किया जाएगा। पहली बार अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित लगभग एक लाख पाकिस्तानी सैनिकों ने बिना लड़े ही आत्मसमर्पण कर दिया था। यह सही है कि भारतीय सेना ने महीनों तक तैयारियां की थीं और एक हौसलापस्त तथा अनेक कठिनाइयों से जूझते शत्रु से युद्ध किया था, पर उसके बावजूद पूर्वी मोर्चे पर हमारी उपलब्धि स्मरणीय थी। वही सेना पश्चिमी मोर्चे पर क्यों असफल हो गई थी, इसे यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि हम वहां प्रतिरक्षात्मक स्थिति में

थे। छंब और जौड़ियां के क्षेत्र में हम लगभग समान शक्ति वाली सेना से हार गए थे लेकिन शकरगढ़ में पाक सेना के मुकावले हम दस गुना बेहतर स्थिति में थे। हमारी फौजें जो शकरगढ़ ही नहीं, और आगे तक के क्षेत्र पर भी आसानी से कब्जा कर सकतीं थीं, पीछे लौटा ली गई। दो वक्तरबंद ब्रिगेडों सहित तीन इन्फेंट्री डिवीजनें, जिनके पास 20 फील्ड और मीडियम आर्टिलरि तोपखाना (रेजिमेंट) (इतना वड़ा तोपखाना कभी किसी अमेरिकी कोर कमांडर को भी उपलब्ध नहीं हुआ था।) था, पाकिस्तान की केवल एक इन्फेंट्री ब्रिगेड और वक्तरबंद रेजीमेंट का दृढ़ता से मुकावला नहीं कर सकीं, जिसके पास सिर्फ एक फील्ड आर्टिलरि और एक ही मीडियम वैटरी थी। कुछ कमांडर उस दौरान आगे वढ़कर दुश्मन के क्षेत्र पर कब्जा करने को मचल रहे थे लेकिन कोर कमांडर लेफ्टि० जन० के० के० सिंह उन्हें पीछे ही लौटने का निर्देश देते रहे। वह अपनी जिद से तभी टले, जव उनके हाथ से कमान ले लेने की बात शुरू हुई। समझा जाता है कि तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने भी जन० सेम मानेकशा से उनके पश्चिमी क्षेत्र के विषय के किए गए उनके वायदों के वारे में जवाव-तलव किया था। इस विषय पर उन दिनों विभिन्न मुख्यालयों में चर्चा होती थी।

शकरगढ़ पर किया गया हमला एक वार नहीं, दो वार असफल हुआ। इसे पाकिस्तान की एक ब्रिगेड से भी कम सेना ने वचाया। यदि युद्ध विराम नहीं हुआ होता तो यह तीसरी वार भी किया जाता। छंव-जौड़ियां क्षेत्र में पाकिस्तान की वेहतर फौजों से हमारी अपेक्षाकृत घटिया सेना द्वारा किये गए साहसपूर्ण युद्ध की ओर किसीने ध्यान नहीं दिया। लेकिन शकरगढ़ क्षेत्र में पाकिस्तान की काफी हल्की सेना के मुकावले हमारी अति श्रेष्ठकर सेना की नगण्य उपलब्धियों पर अंधाधुंध और पूर्णतः अनर्जित सम्मान प्रदान किए गए। इससे सभी ओर ईर्ष्या फैलने और उत्साह टूटने को वल मिला। लंवे समय तक इस विषय पर सेना मेसों और क्लवों में खुले आम चर्चा होती रही।

हालांकि भारतीय सेना चंद दिनों से लेकर वर्षों तक चलने वाली अनेक सैन्य कार्रवाइयों में शामिल रही है, पर युद्ध में सक्रिय भाग लेने वाले वहुत कम लेखकों ने उस विषय पर लिखा है। युद्ध डायरियां और विभागीय रेकार्ड अवश्य रखे जाते हैं, लेकिन कुछ लोगों के हस्तक्षेप और अन्य स्पष्ट कारणों की वजह से उनकी प्रामाणिकता को आसानी से स्वीकार नहीं किया जा सकता। युद्ध या सेना के संवंध में लाभप्रद विवरण असल में युद्ध में भाग लेने वाले लेखकों द्वारा ही दिया गया है। इन लेखकों में लेफ्टि० जन० एल० पी० सेन, लेफ्टि० जन० वी० एम० कौल और ब्रिगे० जे० पी० दलवी शामिल हैं। हाल ही में मेजर जनरल एस० के० सिन्हा ने भी जम्मू और कश्मीर की सैन्य कार्रवाइयों के दौरान हुई घटनाओं का निःसंदेह एक तथ्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। पर यह कोई आलोचनात्मक अध्ययन नहीं

है। कमान स्तर पर एक स्टाफ अफसर के रूप में वह सैन्य कार्रवाई से अप्रत्यक्ष रूप से ही संबंधित थे। अपने कमांडरों के प्रति वफादारी में भी वह बचनबद्ध थे। मेजर जोहरी ने नेफा युद्ध का काफी हद तक प्रामाणिक वर्णन किया है। पर यह सामान्यतः विश्वस्त सूत्रों से प्राप्त जानकारी पर आधारित है। मेजर पालित ने 1971 के युद्ध के विषय में 'द लाइटनिंग कैम्पेन' लिख कर सैन्य लेखक के रूप में अपनी जमी हुई प्रतिष्ठा के साथ अन्याय किया है। मध्यम स्तर का कोई व्यक्ति, जिसने युद्ध में सक्रिय भाग लिया हो, युद्ध का सही खाका खींच सकता है। यह विवरण अत्यंत उपयोगी होगा। काफी कठिनाइयों में रहते ढाका पर तेजी से आक्रमण करने में सफलता पाने वाली गतिशील और प्रखर उच्च कमांडरों की उपेक्षा की गई; बल्कि कुछ को तो निकाल भी दिया गया जबकि अपेक्षाकृत कम सक्षम जनरलों की पदोन्नति कर दी गई।

जम्मू-कश्मीर की लड़ाई, हैदराबाद और गोआ की सैन्य कार्रवाइयों, 1965 और 1971 के भारत-पाक युद्धों और नागालैंड-मिजोरम की सैनिक कार्रवाइयों के विषय में बहुत-सी बातें छिपी पड़ी हैं। जनता को उन तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने का पूरा हक है। आर्मी-ऐक्ट किसी सैनिक को सैन्य मामलों पर लिखने की अनुमति नहीं देता। सेवा काल के दौरान कोई सैनिक उन विषयों पर भी नहीं लिख सकता, जो जनता के लिए अति महत्व के होते हैं। अतः ऐसे अनेक मामले जो सेनाओं की रीढ़ कमजोर कर रहे हैं, रहस्यों के आवरण में छिपे रहते हैं। फलस्वरूप वर्षों से भारतीय सेनाओं की भीतरी दशा दिन-ब-दिन बिगड़ रही है।

जम्मू-कश्मीर की सैन्य कार्रवाइयों के दौरान उच्च कमांडरों के बीच काफी मतभेद थे। कुछ वरिष्ठ अफसर तो बेरोक-टोक लूटमार में भी लगे रहे, जिसका उनके मातहत सैनिकों पर भी नैतिक दृष्टि से बुरा प्रभाव पड़ा। सेना के भीतर कम से कम गैर-राष्ट्रवादी कार्यों के प्रति भी यदि सैनिकों को मुंह खोलने की इजाजत होती तो 1962, 1965 और 1971 की लड़ाइयों के दौरान आंतरिक भितरघात से बचा जा सकता था। विकल्पस्वरूप भारतीय सेनाओं के मामलों पर विचार-विमर्श कर पाने का कोई रास्ता खोजा जाना चाहिए अन्यथा 1962 जैसी ही कोई दूसरी पराजय अचानक देश पर थोपी जा सकती है। भारतीय सेनाओं की अच्छी बातों और कमजोरियों पर विचार-विनिमय न केवल उनपर अंकुश रख सकता है, बल्कि इससे उन्हें अपनी छवि सुधारने में भी मदद मिल सकती है। सभी लोकतन्त्री देशों में सैनिकों को, यहां तक कि सेवाकाल के दौरान भी, युद्ध के विषय में लिखने या अपने विचार प्रकट करने की आजादी है, जब तक कि वे किसी गुप्त जानकारी का उद्घाटन न करें। किसी भी हालत में युद्ध समाप्ति के बाद सैन्य कार्रवाइयां, यहां तक कि शत्रु के लिए भी गोपनीय नहीं रह जातीं। अतः यदि इस बारे में जनता को जानकारी मिल जाए तो उच्च पदों पर बैठे

अवांछित कमांडरों और भितरघात करने वालों का भंडाफोड़ हो सकता है और उनसे छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है।

आज देश अपने वार्षिक वजट का काफी वड़ा भाग प्रतिरक्षा पर खर्च करता है। 1950-51 में यह राशि 170 करोड़ रुपये (वार्षिक वजट की 44%) थी जो 1960-61 में बढ़कर 280 करोड़ रुपये हो गई थी जबकि 1977-78 में यह बढ़ते-बढ़ते लगभग 3,000 करोड़ रुपये तक पहुंच गई थी। यह राशि राष्ट्रीय वजट का 20 से 40 प्रतिशत भाग रही है (विस्तृत विवरण के लिए देखें : परिशिष्ट च)। प्रतिरक्षा हमारे वजट की एक प्रमुख मद है। आरक्षी सेनाओं की कार्यक्षमता युद्ध और विद्रोह के समय की गई सैन्य कार्रवाइयों से ही जानी जा सकती है। जब तक लड़ाइयों, सैन्य-गतिविधियों और आरक्षी सेनाओं के दूसरे मामलों पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं होता, जनता और समाचारपत्रों का इस क्षेत्र के प्रति उपेक्षा भाव खत्म नहीं होता, 1962 जैसी कोई अन्य विफलता देश की प्रतिष्ठा को अचानक आघात पहुंचा सकती है, जिससे हमारे अस्तित्व तक को खतरा हो सकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि नेफा के युद्ध पर अनेक पुस्तकें लिखी गई और पत्रकारों तथा नौकरशाहों ने पराजय के रहस्य को उजागर करने की काफी कोशिश की। युद्ध की सही तस्वीर पेश न करने के लिए पत्रकारों को दोप नहीं दिया जा सकता क्योंकि लड़ाई की असलियत तथा चालवाजियों तक उनकी कोई पहुंच नहीं थी। युद्ध में भाग लेने वाले सैनिक नियमों और कायदे कानूनों की वजह से सच्चाई न उगलने के लिए वाध्य हैं। सच को छिपाने के लिए कड़ा सेंसर, सैनिकों को अलग-थलग करना, मुंहफट दिखने वालों को चेतावनियां देना आदि अनेक तरीके अपनाए जाते हैं।

उपलब्ध टिप्पणियां

1962 की नेफा पराजय के संबंध में भारतीय लेखकों द्वारा की गई टिप्पणियों और विश्लेपणों का अध्ययन करना दिलचस्प होगा। ये टिप्पणियां घटना के काफी बाद आनी शुरु हुई थीं।

नेफा युद्ध पर मेजर जौहरी की पुस्तक की भूमिका में भारत के प्रथम मुख्य कमांडर जनरल करिअप्पा ने लिखा था :

"इस मामले पर सभी पहलुओं से गौर करके मैं महसूस करता हूं कि उस क्षेत्र में हमारी सैन्य कार्रवाइयों को मिली दुर्भाग्यपूर्ण असफलता की मुख्य ज़िम्मेदारी ईमानदारी से 'राजनैतिक द्वार' पर डाली जा सकती है। पूरी तरह से 'सैनिक द्वार' पर नहीं। इस प्रतिकूल पहाड़ों वाले और वृक्षावृत लंबे मोर्चों पर हमारी सेना पतली-सी हरी झंडी से ज्यादा कुछ नहीं थी। हमारे कमांडर दुश्मन की गतिविधियों से अनभिज्ञ थे।"

नेतृत्व के विषय में उन्होंने लिखा है :

"जैसाकि इस पुस्तक में दर्ज है, मुझे मालूम है कि हमारे यहां असफल नेतृत्व की कई मिसालें थीं, लेकिन यह केवल हमारी थल सेना में ही खासतौर से नहीं थी। पिछली लड़ाइयों के दौरान दूसरे देशों में हमसे कहीं ज्यादा बुरी चीजें हुई हैं, पर निश्चय ही हम यह कहकर तसल्ली नहीं पा सकते हैं कि और जगहों पर भी ऐसा हुआ है।"

भारतीय थल सेना के एक सेवानिवृत्त अध्यक्ष होने के नाते जन० करिअप्पा को अपनी टिप्पणी में इतना अस्पष्ट नहीं होना चाहिए था। असल में उनकी एक खरी टिप्पणी भारतीय सेना के भावी विकास में काफी सहायक हो सकती थी। उच्च कमांडरों की पूर्ण असफलता और बेमिसाल हार पर पर्दा डालने का उनका प्रयास समझ से बाहर है। उत्तरी अफ्रीका में इतालवी विफलताएं, हारें और पूर्ण हारें अवश्य हुई हैं, लेकिन इनमें कहीं भी कोई डिविजन का जनरल स्टाफ आफिसर, कमांडिंग, अपने सैन्य परिचालन संबंधी वरिष्ठ स्टाफ अफसर को साथ लेकर लड़ाई छिड़ने से पहले ही युद्ध क्षेत्र से नहीं भागा था। न ही कहीं ऐसा हुआ कि कोई वरिष्ठ स्टाफ अफसर जान बचाकर भागने की दौड़ में अपने ही जनरल आफिसर कमांडिंग को पीछे छोड़कर भाग निकला हो। ऐसा भी कभी इतिहास में नहीं हुआ कि संख्या और अग्नि-शक्ति, दोनों तरह से बेहतर कोई फौज अपनी ही अधिकृत जमीन पर पूरी तरह से तैयार प्रतिरक्षात्मक मोर्चा छोड़कर भाग गई हो और छोटे अफसर युद्ध के लिए तरसते रह गए हों।

एक अन्य स्थल सेनाध्यक्ष जनरल थिमय्या, जिन्होंने सेना में कई अच्छी परंपराएं कायम की थीं, जनरल करिअप्पा के विपरीत, अपने विचारों में स्पष्ट और ईमानदार थे। उनके अनुसार :

"हमें पराजय का मुंह क्यों देखना पड़ा, एक सही समन्वित कार्यक्रम का अभाव, युद्ध पर नियंत्रण की कमी और भारी जान-माल का नुकसान। इन सबका कारण ढूंढने के लिए पूरी जांच-पड़ताल होनी चाहिए। सैन्य कार्रवाई के इस हिस्से पर कोई टिप्पणी करने के लिए मैं पर्याप्त जानकारी या योग्यता नहीं रखता।" (इंटरनेशनल स्टडीज सितम्बर—1963)

मेजर दत्ता ने अपनी पुस्तक 'विद टू प्रेजीडेन्ट्स' में राष्ट्रपति राधाकृष्णन् को ठीक ही उद्धृत किया है : "वे हमारे घर में आए, हमें दो चपत जड़े और चलते बने।" लेकिन प्रश्न यह है कि क्या उच्चतम कमांडर होने के नाते राष्ट्रपति राधाकृष्णन् ने पराजय के कारणों का पता लगाने के लिए किसी निष्पक्ष जांच का आदेश दिया? संविधान ने तीनों सेनाओं के मामले में राष्ट्रपति को अंतिम कानूनी अधिकार प्रदान किए हैं, लेकिन फिर भी वह पराजय की जांच नहीं करवा सके और सेना की उच्च कमान ने जो कुछ कहा, उसी पर विश्वास कर गए।

सरकारी बयान तक में तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा गया था। यह गुप्तचरी ब्यूरो और सेना की रपट पर आधारित होना चाहिए था। "इंडिया एंड द चाइनीज़ इंवेजन" नामक प्रबंध में पृष्ठ 33 पर कहा गया है।

"सैनिकों की इस प्रबल बाढ़ ने हमारे सिपाहियों की ओर रुख किया हुआ था। उन्हें वे तब तक पीछे ही पीछे खदेड़ते रहे जब तक हम अपनी अंतिम प्रतिरक्षात्मक पोजीशन तक नहीं पहुंच गए। कुछ समय बाद उन्होंने हमें घेर लिया। सम्भवतः यही कारण था कि हम सेला की अत्यंत मजबूती से प्रतिरक्षित पोजीशन पर भी टिके नहीं रह सके और चीनी बोमडिला की ओर बढ़ गए।"

यह पता लगाना उपयोगी होगा कि यह बयान किसने और क्यों दिया। जाहिर है, कोई तथ्यों को छिपाने की कोशिश कर रहा होगा। जनरल कौल ने भी समय पूर्व अवकाश ग्रहण करने संबंधी प्रार्थना में सरकार को बहकाने की कोशिश की थी (द अन्टोल्ड स्टोरी, पृष्ठ 446):

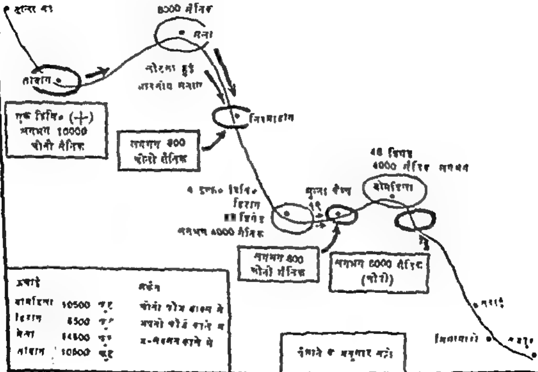
"जैसाकि मैंने कहा है, नेफा में हमारी हार, संख्या, हथियारों, संभार तंत्र संगठन और प्रशिक्षण में दुश्मन की बेहतर स्थिति के कारण हुई है, पर चूंकि वह मेरे कमांडर रहते हुई…"

मानकेकर ने अपनी पुस्तक 'गिल्टी मैन आफ 1962' (पृष्ठ 75) में भारतीय सेना के विषय में एक वाक्य लिखकर पूरी पराजय का निष्कर्ष दे दिया है, "यह संख्या में, हथियारों में और सेनापतित्व में बेहतर थी।"

कुलदीप नायर ने भी चीनियों की प्रखर सामरिक चालों, और उनके स्वचालित हथियारों के मुकाबले भारतीय ·303 राइफलों की अपर्याप्तता का उल्लेख किया है। यहां तक कि मलिक, जिन्होंने कमजोर गुप्तचरी के लिए अपनी ही सफाई पेश की है, ने भी नेहरू को बचाने का प्रयास किया है। उन्होंने पूरी घटना को यह कहकर दबाने की कोशिश की है कि "इस सामान्य विफलता के लिए एक व्यक्ति को; एक विशेष इकाई को या किसी संगठन को भी दोषी ठहराना अनुचित होगा।" (चाइनीज बिट्रेयल; पृष्ठ 560)

यदि उनमें एक खुफिया संगठन की थोड़ी-सी भी झलक होती तो 17, 18 और 19 नवंबर, 1962 को घटी वास्तविक घटनाओं की उन्हें जानकारी होनी चाहिए थी। यह जानना बड़ा दिलचस्प होगा कि उन्होंने ऐसी टिप्पणी क्यों की? वह पराजय की विस्तृत जांच-पड़ताल नहीं चाहते थे क्योंकि उससे कुछ अरुचिकर रहस्योद्घाटन हो सकता था। उन्होंने यह कहकर लेफ्टिनेंट जनरल सेन के पक्ष को मजबूत किया है (पृ० 390):

"आर्मी कमांडर का यह विचार सही था कि न्यामका चू पोजीशन बचाई जा सकती है और बचाई जानी चाहिए। कठिनाई केवल यही थी कि जन० सेन अपनी



कारगिल एफ० ओ० [redacted] एक दृश्य—भारतीय सेनाओं द्वारा अधिकृत ऊंचाइयां
8000 सैनिक
लगभग 10000 चीनी सैनिक
लगभग 800 चीनी सैनिक
[redacted] डिवीज़
लगभग 4000 सैनिक
लगभग 800 चीनी सैनिक
4000 सैनिक
लगभग 6000 सैनिक (चीनी)
पैमाने के अनुसार नहीं
ऊंचाई
10500
8500
14800
10500

ब्रिगेड की ऐसे रूप में कल्पना कर रहे थे जो आक्रामक साहस से परिपूर्ण थी और अपर्याप्त उपकरणों के बावजूद भी एक दृढ़ निश्चयी और समर्थ कमांडर के नेतृत्व में काम कर रही थी।"

'सैन्य कार्रवाई' में जनरल सेन की भूमिका पर मैं विस्तृत रूप से आगे लिख रहा हूं।

इसी प्रकार मलिक ने ब्रिगे० राले का पक्ष मजबूत करने की कोशिश की है (पृष्ठ 392) :

"वह एक दृढ़ संकल्पी ब्रिगेड कमांडर थे, जिन्होंने मैकमोहन लाइन पर ही पोजीशन ली थी। यहां उनकी टुकड़ियों ने जमकर युद्ध किया और दुश्मन को काफी नुकसान पहुंचाया। जब उन्हें दुश्मन की ज्यादा बड़ी संख्या ने घेर लिया तभी वे कुछ मील पीछे तैयार प्रतिरक्षी मोर्चे पर लौटे थे।"

वह नेहरू को उनके राजनैतिक विरोधियों के विषय में सही जानकारी देते रहे होंगे। हो सकता है, नेहरू पर उनका अच्छा प्रभाव भी हो, क्योंकि उन्होंने नेहरू की अच्छी सेवा की थी। लेकिन ढोला के संघर्ष के संबंध में नेहरू को जो जानकारी उन्होंने दी थी, उससे देश का कोई हित नहीं हुआ था। जब न्यामका चू में हमें अचानक विफलता मिली और पूरी ब्रिगेड नष्ट हो गई तो गुप्तचरी ब्यूरो का प्रमुख होने के नाते उन्हें यह आशंका होनी चाहिए थी कि कहीं न कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है।

अपनी पुस्तक 'स्लैंडर वाज द थ्रेड' में लेफ्टि० जन० सेन ने (पृष्ठ 297 पर) लिखा है :

"1962 की नेफा हार को भारतीय थल सेना की पराजय माना गया है। उसे भारतीय थल सेना के मुट्ठी भर सैनिकों की पराजय कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। भारत की चार ब्रिगेडों ने चीन की चार डिविजनों को पछाड़ने का प्रयत्न किया था, वह भी काफी प्रतिकूल क्षेत्र में स्थित 600 मील लंबे मोर्चे पर।"

जाहिर है, उपर्युक्त टिप्पणी साधारण भारतीय जनता को बहकाने के लिए की गई है जो युद्ध या सेना के विषय में बहुत कम जानती है तथा मजबूरन जिसे सैन्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत जानकारी पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

आश्चर्य की बात है कि आर्मी कमांडर के रूप में ले० जन० सेन को 17-18 नवम्बर, 1962 को सेला, डिरांग और बोमडिला में क्या-क्या हुआ, उसकी कोई जानकारी नहीं थी। और यदि उन्हें जानकारी थी तो उनकी यह टिप्पणी अति निंदनीय है, क्योंकि तब यह जानबूझकर देश को गलत धारणा दे रहे हैं। यही नहीं, वह भावी पीढ़ी के लिए भी गलत सबक छोड़ रहे हैं। जिसका वे जिक्र करते हैं, वह 600 मील लंबा मोर्चा कहां था ? किसी भी दूसरे लेखक ने कामेंग में तैनात चीनियों की चार डिविज़नों का जिक्र नहीं किया है। बड़े से बड़े अनुमान भी दो

डिविजनों (20,000 से कम सैनिक) से ज्यादा का उल्लेख नहीं करते।

चीनी फौजों का अधिकांश भाग सेला पर कब्जा करने के लिए लगा था, लेकिन सेला में भारतीय सेनाएं दुश्मन से लड़े बिना ही अपने पूर्णतया तैयार मोर्चे को छोड़कर क्यों भाग आईं, यह जन० सेन ही बेहतर जानते हैं। ब्रिगे० होशियार-सिंह ने सेला पर चीनियों के चार हमलों को सफलतापूर्वक विफल कर दिया था। 17 नवम्बर, 1962 को उन्होंने चीनियों को भारी नुकसान पहुंचाकर काफी पीछे खदेड़ दिया था, लेकिन फिर भी उन्हें मेजर जन० पठानिया, उनके जी० ओ० सी० या किसी अन्य व्यक्ति ने अपनी मजबूत पोजीशन छोड़कर बाहर खुले में आने का हुक्म दिया। उन्हें चीनियों द्वारा नष्ट करवाने के लिए ही सेला से पीछे हटने को कहा गया था। इस आदेश से जन० कौल का कोई संबंध नहीं था। मेजर जौहरी, जो युद्ध के बाद अनेक अवसरों से मिले थे, सच्चाई के कुछ करीब पहुंचे हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है (पृ० 195) :

भारतीय उच्च कमान में कमजोर और डरपोक नेतृत्व हार का कारण कहा जा सकता है। जनरल अक्सर समय रहते निर्णायक कदम उठाने में असफल रहे और उन्होंने मामले को काबू से बाहर हो जाने दिया।

अतः 1962 की पराजय के विस्तृत विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है :

(क) सेला और बोमडिला में भारतीय सेनाओं को काफी ऊंचाई पर तैनात किया गया था। किसी भी हमले का जवाब देने के लिए वे पूरी तरह तैयार थीं।

(ख) डिरांग में, जहां सम्भागीय मुख्यालय का शिविर लगा था, सैन्य परि-चालन संबंधी स्टाफ अक्सर निराशा का भाव उत्पन्न कर रहे थे।

(ग) 65 ब्रिगेड का कमांडर पहले से ही घबराया हुआ था। उसकी पृष्ठभूमि और आचार-व्यवहार को देखते हुए (जिसकी पर्याप्त जानकारी मिलिटरी सेक्रेटरी को होनी चाहिए थी), उन्हें सैन्य परिचालन संबंधी एक नाजुक पद पर नियुक्त करना दुर्भाग्यपूर्ण था।

(घ) हमारी सेनाएं हथियार और गोलाबारूद की दृष्टि से चीन की अपेक्षा कहीं अधिक बेहतर थीं। यदि सही ढंग से उपयोग किया जाता तो ठीक दुश्मन के लिए प्रलय मचा सकते थे।

(ङ) सभी बटालियनों की पृष्ठभूमि योद्धा वर्गों से जुड़ी थी। जनरल आफिसर कमांडिंग मेजर जनरल पठानिया को दो बार सम्मान प्राप्त हो चुका था। वे महावीर चक्र और मिलिटरी क्रास विजेता थे।

(च) जन० कौल के खिलाफ चुपचाप कोई प्रचार किया जा रहा था।

(छ) 65 इन्फेंट्री ब्रिगेड शिविर में एक धुएं वाला बम फटने की तथा कुछ अज्ञात लोगों द्वारा चन्द गोलियां छोड़ने की अजीब घटनाएं हुई थीं। हो सकता ऐसा अन्य मुख्यालयों में भी हुआ हो।

(ज) कुछ अफसर खुलेआम लड़ाई लड़ने के विरोध में बोल रहे थे। उनका कहना था कि चूंकि देश ने उनका कोई ध्यान नहीं रखा, इसलिए वे भी क्यों देश की चिंता करें ?

भागीदारों के विचार

जब मैंने इस पुस्तक को लिखने का फैसला किया, तो यह ज़रूरी हो गया था कि मैं युद्ध में भाग लेने वाले हर स्तर के लोगों, खासकर उच्च कमांडरों, से मिलूं और कुछ अव्याख्येय घटनाओं को खुलासा करूं। मैंने मिजोरम और पश्चिमी सीमा पर तीन साल तक सैन्य गुप्तचर विभाग के साथ काम किया था। उससे मुझे उच्च स्तरों पर भितरघात की संभावना का अभास मिला था। मुझे लगा कि 1962 के युद्ध में भी ऐसी संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। मैंने सभी उपलब्ध कमांडरों और स्टाफ अफसरों से भेंट की है। इनमें जनरल चौधरी से लेकर कैप्टन (अब कर्नल) रावत तथा कुछ जूनियर कमीशन अफसर और जवान शामिल हैं। मैंने मेजर जन० पठानिया, ब्रिगेडियर ए० एस० चीमा तथा 48 ब्रिगेड के कमांडर ब्रिगेड गुरबक्श सिंह से लंबी बातचीत की। चूंकि ब्रिगे० होशियारसिंह युद्ध के दौरान मारे गए थे, इसलिए मैं उनके स्टाफ अफसर ब्रिगेड मेजर (अब ब्रिगेडियर) ऐलिग्जेंडर से मिला। जे० डी० एस० दत्ता से संपर्क नहीं हो सका। मैंने जनरल चौधरी से 1962 की हार का मुख्य कारण पूछा। एक जनरल का नाम लेकर वह फूट पड़े, "वह कायर था।" जब मैंने उनसे पूछा कि क्या उन्हें भितरघात की आशंका है, तो उनकी पत्नी ने मुझे सलाह दी कि जनरल की तबीयत ठीक नहीं है, अतः मैं उनसे युद्ध के संबंध में बातचीत न करूं। जनरल चौधरी ने बताया कि वह शीघ्र ही एक पुस्तक लिखने वाले हैं। मुझे विश्वास है कि वह भावी पीढ़ी के हित के लिए इस विषय पर कुछ रोशनी ज़रूर डालेंगे क्योंकि उन्हें तथ्यों की पूरी जानकारी होनी चाहिए।[1]

मैंने सातवीं ब्रिगेड की पराजय पर मेजर जनरल निरंजन प्रसाद से चर्चा की। वह ब्रिगे० दलवी के चीनियों के हाथों पकड़े जाने पर आश्चर्यचकित थे क्योंकि उनके अनुसार दलवी आसानी से उससे बच सकते थे। उन्होंने दलवी के लौटने पर स्वयं पहला सवाल यही पूछा था। ब्रिगे० दलवी के उत्तर से वह संतुष्ट नहीं थे। हालांकि वह मेरे इस सवाल का कोई सटीक जवाब नहीं दे सके थे कि क्या न्यामका चू में सातवीं ब्रिगेड की पराजय में उन्हें किसी प्रकार की

---

1. उसके बाद उनकी आत्मकथा प्रकाशित हुई, लेकिन नेफा की हार को उन्होंने जिस तरह से दो वाक्यों में निपटा दिया है, उससे मुझे निराशा ही हुई है, "मेरे विचार से चीन जैसी सेना से ऊंचाई पर भिड़ने के लिए हम साज-सामान और प्रशिक्षण की दृष्टि से काफी दयनीय दशा में थे। सेला कोई रक्षणीय पोजीशन नहीं थी।"

भितरघात की आशंका थी, लेकिन वह उसकी संभावना से भी इंकार नहीं कर सके थे। उनके अनुसार मुख्यवर्ती ब्यूरो में कोई व्यक्ति चीनियों के साथ शीघ्र ही संघर्ष के लिए लालायित था ताकि हम अमेरिका से मदद मांग सकें। जन० सेन भी शीघ्र ही संघर्ष को तत्पर थे, चाहे हम उसके लिए तैयार हों अथवा नहीं।

कुछ उच्च कमांडर चर्चा के लिए तैयार नहीं थे। लेफ्टि० जन० एल० पी० सेन ने कहा कि वह स्वयं युद्ध पर एक पुस्तक लिख रहे हैं, अतः उसपर चर्चा करना नहीं चाहेंगे। उन्होंने किसी न किसी तरह इस प्रश्न का उत्तर देने से टाल दिया कि क्या इस रहस्यात्मक पराजय के लिए उनकी नजर में कोई भितरघात जिम्मेदार है।

जब मैं चंडीगढ़ में ब्रिगेडियर गुरबख्श सिंह गिल (आर्टिलरी) से मिला तो उन्होंने कोई टिप्पणी करने से स्वयं को साफ बचा लिया था। कमांडर सिगनल, कर्नल सोंधी से मैंने अबाला में भेंट की। वह कोई बात करना नहीं चाहते थे, सिवाय इसके कि उनके विचार से जनरल आफिसर कमांडिंग पठानिया एक बहादुर आदमी थे और लौटकर जाते समय उनपर चीनियों ने घात लगाकर हमला किया था। मैंने सैन्य कार्रवाई के विषय में जी० एस० ओ०-1 (परिचालन) लेफ्टि० कर्नल (बाद में ब्रिगेडियर) मनोहरसिंह तथा जी० एस० ओ०-2 (परिचालन), मेजर (बाद में मेजर जनरल) नरिंदरसिंह से बात नहीं की क्योंकि मैं उनको अच्छी तरह जानता था। उनकी सक्षमता पर मुझे भरोसा नहीं था। मुझे मालूम है, ये कभी सच नहीं बोलते।

जनरल पठानिया ने पहले तो मुझसे मिलने से बचने की कोशिश की, पर बाद में जोर देने पर मैं उनके निवास पर उनसे भेंट करने में सफल हो गया। वह युद्ध के संबंध में चर्चा करने को बिलकुल तैयार नहीं थे। काफी हिचकिचाहट और मेरे बहुत आग्रह के बाद ही उन्होंने मुझे बताया कि अपने सैन्य परिचालन संबंधी स्टाफ अफसरों पर विश्वास करके उन्होंने गलती की थी। यदि उन्होंने अपनी योजनानुसार उनकी जगह कमांडर इंजीनियर लेफ्टि० कर्नल टी० बी० मदा को नियुक्त कर लिया होता तो उन्होंने दूसरे ढंग से कार्रवाई की होती। वह यह समझ गए थे कि मुझे अधिकांश तथ्यों की जानकारी है। वह शराब के बहुत शौकीन थे। शराब के एक दौर के बाद वह फूट पड़े कि उनके परिचालन स्टाफ अफसरों का कोर्ट मार्शल होना चाहिए था। जब मैंने भितरघात की आशंका संबंधी मुख्य प्रश्न किया, तो वह कुछ देर तक बिलकुल चुप रहे तथा बाद में कोई उत्तर नहीं दिया। उनके जवाबों का सार यही था कि यदि उनके जनरल स्टाफ आफिसर ज्यादा सक्षम, अनुभवी और पेशे की दृष्टि से समर्थ होते तो लड़ाई का रुख ही दूसरा होता। अपने जी० एस० ओ०-2 (परिचालन) मेजर नरिंदरसिंह के विषय में भी उनका यही विचार था। वह इस बात से सहमत थे कि हम चीनियों से एक

वार अवश्य भिड़ सकते थे। लेकिन उनके विचार से घटनाएं इतनी तेज़ी से घटी थीं तथा चीनियों ने इतनी जल्दी मार्ग अवरोध कर दिया था कि वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गए।

ब्रिगेडियर चीमा के बारे में मैं पहले ही लिख चुका हूं। उनकी मानसिकता और आचार-व्यवहार को देखते हुए उन्हें रणक्षेत्र के आसपास कहीं नहीं होना चाहिए था। मिलिटरी सेक्रेटरी की शाखा को उनकी पृष्ठभूमि और सामर्थ्य की जानकारी निश्चित रूप से होनी चाहिए थी। इस बात पर काफी ध्यान से विचार किया जाना चाहिए कि उन्हें सैन्य कमान संबंधी एक नाजुक पद पर नियुक्त क्यों किया गया। यह प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि स्वार्थी खुफिया एजेंसियों की चालबाज़ियों का पहला लक्ष्य प्रधान पदों पर अफसरों का चयन होता है।

ब्रिगेडियर चीमा के अनुसार उन्होंने 18 नवम्बर को सुबह लगभग 6 बजे जनरल पठानिया से उचित आदेश देने को कहा था। जनरल पठानिया को उनके जनरल स्टाफ अफसर पीछे हटने की सलाह दे रहे थे। चीमा के अनुसार, मनोहर सिंह पठानिया से कह रहे थे कि तुरंत भाग चलो अन्यथा 'सारे मारे जाएंगे।' ब्रिगेडियर चीमा को मांडला आने को कहा गया। जन० पठानिया के अनुसार, उन्होंने चीमा को होशियारसिंह की ब्रिगेड की देखभाल के लिए कहा था। यदि चीमा पठानिया के पीछे गए होते तो पठानिया की उनपर नज़र अवश्य पड़ती। पठानिया और चीमा दोनों के बयानों से यह पता लगाना बहुत मुश्किल है कि किसका बयान सही है।

48 इन्फेंट्री ब्रिगेड के कमांडर गुरबक्शसिंह ने जन० कौल पर आरोप लगाया कि वह सैन्य कार्रवाइयों में दखल दे रहे थे। संभागीय मुख्यालय के माध्यम से प्राप्त कौल के आदेशों पर ही उन्होंने प्रबल गश्ती दलों को भेजा था, जबकि वह ऐसा नहीं चाहते थे, क्योंकि बोमडिला में उनका प्रतिरक्षात्मक मोर्चा किसी भी चुनौती से निपटने को पूरी तरह तैयार था। उन्हें मालूम था कि आदेश सामरिक दृष्टि से विवेकपूर्ण नहीं थे। वह एक बड़ी दुविधा में फंस गए थे कि आदेशों को मानें अथवा नहीं। यदि नहीं मानते तो अवज्ञा के लिए उनका कोर्ट मार्शल हो सकता था और यदि मान लेते तो विपत्ति का आना निश्चित था। अंत में उन्होंने आदेशों का पालन किया। जब भी संभागीय अथवा कोर मुख्यालय से आदेश मिला, उन्होंने छोटे-छोटे दलों में सैनिकों को भेजा। उनके अनुसार इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि सिपाहियों द्वारा खाली पोज़ीशनों पर चीनियों ने कब्ज़ा कर लिया। उन्होंने सोचा था कि वह आसानी से बोमडिला की पोज़ीशनों पर टिके रह सकते हैं, पर सिपाहियों से निरावृत हो जाने के बाद पोज़ीशनों को बचाना मुश्किल हो गया। उन्होंने बताया कि कौल और पठानिया दोनों ने ही अविवेकी आदेश दिए। उन्हें निकाल दिया गया लेकिन पठानिया के खिलाफ कोई कार्रवाई

नहीं हुई। उन्होंने तत्कालीन सेनाध्यक्ष जनरल चौधरी से साक्षात्कार की मांग की। जनरल चौधरी ने उन्हें बताया कि पठानिया के खिलाफ भी कार्रवाई की जाएगी लेकिन संभवतः जनरल चौधरी पहले कौल को ठिकाने लगाना चाहते थे। वे दोनों परस्पर विरोधी गुटों से संबंधित थे, इसीलिए वह सच्चाई छिपाने पर तुले थे। गुरबक्शसिंह के अनुसार, पठानिया मनोहरसिंह का कोर्ट मार्शल करना चाहते थे, लेकिन कुछ वरिष्ठ सफर अफसरों के वरदहस्त इस काम में आड़े आ गए। चीमा ने भी महसूस किया कि वह भी सब आरोपों से बरी हो सकते थे, यदि मनोहरसिंह और गुरबक्शसिंह की तरह इनका भी कोई 'बड़ा आदमी' उच्च कमान में होता।

मुझे डर है कि ब्रिगे० गुरबक्शसिंह का यह कथन कि चीनी उनके सैनिकों द्वारा खाली की गई पोजीशनों पर सीधे पहुंच गए थे, तभी ठीक हो सकता है, जब उनकी ब्रिगेड में ही चीनी जासूस मौजूद हों, जिन्होंने चीनी सेना को बताया हो कि अमुक-अमुक क्षेत्र सैनिक रहित हो चुके हैं। अन्यथा सैनिक रहित प्रतिरक्षात्मक ठिकानों को ढूंढना, वह भी रात के समय, असंभव कार्य है। बोमडिला की घटना पर विभिन्न मत व्यक्त हुए हैं, अतः सच्चाई का पता लगाने के लिए ध्यानपूर्वक जांच-पड़ताल करनी होगी।

जहां उच्च कमांडरों ने घटना की जानकारी के आधार पर चर्चा करते हुए काफी सावधानी और सतर्कता बरती, वहां अनेक जूनियर अफसरों, जैसे कैप्टनों और मेजरों ने जो कुछ देखा था, बेहिचक कह डाला। मैंने 'क्यू' स्टाफ के कैप्टन (अब लेफ्टि० कर्नल) जीत खन्ना, मेजर (अब लेफ्टि० कर्नल) चंदर गुप्ता, मेजर (बाद में ले० कर्नल) ऐलेग्जेंडर आदि से भेंट कर उनसे पराजय के विषय में बातचीत की। मैंने 48 ब्रिगेड के मेजर (बाद में ब्रिगेडियर) एम० एन० रावत, सिगनल रेजिमेंट कमांडर, ले० कर्नल (बाद में कर्नल) सोधी, मेजर (बाद में ब्रिगेडियर) एस० एस० मैन्हास, बालोंग सेक्टर में गोरखा बटालियन के मेजर (बाद में ले० कर्नल) चटर्जी, 65 ब्रिगेड के ब्रिगेड मेजर (बाद में ब्रिगेडियर) एम० वी० वाडके, कैप्टन (बाद में मेजर) आर० के० वाली और अनेक दूसरे लोगों से भी चर्चा की। अनेक युवा और मध्य स्तर के युवा अफसरों से बात करने पर मुझे पता लगा कि इन लोगों ने केवल आदेशों का पालन किया था, वास्तविक घटनाओं के विषय में ये काफी घबराए हुए थे। उन लोगों का यह एक सामान्य विचार था कि पूरी घटना के लिए जन० कौल जिम्मेदार थे तथा सरकार स्थल सेना का पूरा ध्यान नहीं रखती। केवल समरांगण मुख्यालय में उपस्थित अफसर ही कुछ जानते थे। सामान्यतः यही सोचा गया कि पठानिया एक सीधे-सादे सिपाही थे, जिन्हें उनके जनरल स्टाफ अफसरों ने काफी उकसाकर भागने के लिए लगभग विवश कर दिया था। उन्होंने मुझे बताया कि वरिष्ठ परिचालन स्टाफ अफसर मनोहर-

सिंह तथा वरिष्ठ लाजिस्टिक्स स्टाफ अफसर शमशेरसिंह के बीच निरंतर युद्ध चलता रहता था। उनके विचार से तोपखाने के कमांडर भी जल्दी भागने की सलाह देने के लिए ज़िम्मेदार थे, हालांकि पठानिया रात देर तक कनिष्ठ स्टाफ अफसरों को यही संकेत देते रहे कि वे युद्ध करेंगे। जिन अफसरों ने मुझे ये तथ्य दिए हैं, मैं उनके नाम नहीं देना चाहता, क्योंकि वे अभी सेवा में हैं।

62 ब्रिगेड मुख्यालय की सही तस्वीर प्राप्त करना मुश्किल है। ब्रिगेड मेजर, मेजर दत्ता सरकारी बयान से सहमति प्रकट करने के अलावा घटना पर कोई चर्चा करने को तैयार नहीं हुए। दिलचस्प बात यह है कि वह और ब्रिगेड मुख्यालय के लाजिस्टिक्स स्टाफ अफसर ब्रिगेड कमांडर से अलग हो गए थे। ब्रिगेड कमांडर रास्ते में मारे गए थे। एक कमांडिंग अफसर लौट आने के काफी देर बाद तक सैन्य कार्रवाई के विषय में मौन साधे रहे। मार्ग में हुई एक मुठभेड़ में होशियार-सिंह की मृत्यु हो जाने की पुष्टि के बाद ही उन्होंने अपनी बटालियन के बहादुरी-भरे कारनामे बयान करने को मुंह खोला था। 62 ब्रिगेड को पीछे हटाने में जन० कौल का प्रत्यक्ष योगदान क्या था, इस विषय में किसीके पास कुछ कहने को नहीं था। एक ऐसी प्रबल युद्धक सेना, जो चीनियों से बेहतर थी तथा 17 नवंबर को जिसने उनके चार हमलों का करारा जवाब दिया था, को पीछे हटने का आदेश देना, उसकी पीठ में छुरा घोंपने से कम नहीं था। यदि घटना की सक्षम विशेषज्ञों द्वारा ध्यानपूर्वक जांच की जाती तो न केवल पूरे कांड के पीछे छिपे प्रमुख दिमाग का भंडाफोड़ हो सकता था बल्कि उस संबंध में प्रेस और जनता को कैसे बहकाया गया, उसकी भी कलई खुल जाती।

सेला पोज़ीशन पर विरोधी विचार

सेला पोज़ीशन के बारे में अन्य कमांडरों के परस्पर विरोधी विचारों का अध्ययन करना भी काफी दिलचस्प होगा। सितंबर, 1962 तक 4 इन्फेंट्री डिविज़न के लिए तोवांग की सुरक्षा प्रमुख कार्य था। तोवांग के हाथ से निकलने पर एक पूरी डिविज़न के लगभग सेना उस पहाड़ी क्षेत्र में भेजी गई। उस समय जन० कौल दिल्ली में बीमार पड़े थे। सैनिकों के लिए प्रतिरक्षात्मक ठिकानों का चयन करना अभी बाकी था। लेफ्टि० जन० हरबक्शसिंह कोर के कार्यवाहक जनरल आफिसर कमांडिंग थे। उन्हें पहाड़ी क्षेत्रों में युद्ध करने का कुछ अनुभव भी था। ले० जन० एल० पी० सेन आर्मी कमांडर थे। उस समय तक वे क्षेत्र का हवाई सर्वेक्षण कर चुके थे। वे दोनों ही प्रतिरक्षात्मक दृष्टि से सेला की मजबूत स्थिति से सहमत थे।

सेला मिसामारी से 200 किलोमीटर दूर है। एक 'एक-टन' ट्रक मार्ग इसे मैदानी क्षेत्र से जोड़ता है। 12,000 से 14,000 फुट की ऊंचाई पर स्थित उस

पूरे क्षेत्र का यह प्रबलतम ठिकाना है। यहां से [illegible]
जा सकता है। इस स्थान पर स्थित चौकियों से हमारे [illegible]
पूर्वी क्षेत्र की ओर बढ़ती सीमित चीनी सेनाओं (हर [illegible]
सैनिक) की गतिविधियों को तीन बार देख सकते थे। [illegible]
रेजिमेंट के साथ एक डिविजन तक सैनिकों को [illegible]
प्रकार से यह स्थान चीनियों को रोक रखने और [illegible]
देने के लिए एक आदर्श ठिकाना था। यदि वे [illegible]
कोई मार्ग-अवरोध खड़ा करने की मूर्खता करते [illegible]
जैसाकि नक्शे में (देखें पृष्ठ 109) दिखाया [illegible]
में काफी आगे बढ़ गई थीं। ऐसी स्थिति में [illegible]
भेजकर चीनी सेनाओं के लिए मार्गावरोध [illegible]

पश्चिमी कमान मुख्यालय को प्राप्त हुआ था। अमृतसर को दुश्मन के लिए छोड़ देने के क्या परिणाम होते (वह भी युद्ध विराम के बाद, सौदेबाजी के समय), मैं यह पाठकों की कल्पना पर छोड़ता हूं।

इसी प्रकार, 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान लड़े गए शकरगढ़ युद्ध का भी किसीने कभी विश्लेषण नहीं किया जबकि छंब और जौड़ियां क्षेत्रों को पाकिस्तान की लगभग बराबर फौज ने हथिया लिया, अगले ही द्वार पर शकरगढ़ क्षेत्र में हमारी दसगुना बेहतर फौजें अंतिम क्षणों में सफाई से गुटबंदियों में फंसाकर निष्क्रिय कर दी गई। इस प्रकार छंब-जौड़ियां पर दबाव कम नहीं किया जा सका और हम हमेशा के लिए छंब गंवा बैठे। ये दो निःशब्द पराजय हैं, जिनका विश्लेषण यह सिद्ध कर सकता है कि युद्ध के उच्चस्तरीय निर्देश सर्वथा ठीक नहीं होते।

हमारा इतिहास युद्ध की सफलताओं, गद्दारों और भितरघात करने वालों से भरा पड़ा है। यदि वर्तमान लोकतांत्रिक और प्रबुद्ध वातावरण में भी प्रेस और जनता राष्ट्र के इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के मामलों में रुचि नहीं लेती, तो इतिहास स्वयं को दोहरा सकता है। यदि आरक्षी सेनाओं के मामलों को पूर्णतया जनरलों और रक्षा मंत्रालय के भरोसे छोड़ दिया गया तो देश के लिए गंभीर परिणाम हो सकते हैं।

अध्याय 11

मानवीय संबंध, उच्च कमान और वीरता पुरस्कार

उत्तरदायित्व और कर्तव्य की गहन भावना के साथ मैं यह अध्याय लिख रहा हूं ताकि उच्चाधिकारी कुछ आत्ममंथन कर उन बातों को दूर कर सकें जो हमारी सेना की जड़ों को कुतर रही हैं। ये सेना में मेरे पच्चीस वर्षों से भी ज्यादा के अनुभव, निजी जानकारियों और अवलोकनों पर आधारित हैं। सेना में रहते हुए भी मैंने स्वीकृत माध्यम यानी 'क्वार्टरली समरी आफ इंटेलिजेंस रिपोर्ट' के जरिये सेना के हित में उस तरह के विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए थे। थल सेना में ले० कर्नल से लेकर उच्च पदों पर आसीन कमांडरों को उन मुद्दों पर अपने विचार व्यक्त करने की छूट है जिनका असर सेना के मनोबल पर पड़ता है। इस तरह के विचार, और खासकर सेना के मनोबल को प्रभावित करने वाले विचार थल सेनाध्यक्ष की जानकारी के लिए प्रकट किए जाते हैं।

रक्षामंत्री, संसद या जनता के पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे सेना में मनोबल की वास्तविक स्थिति, इसका इन्सानी रिश्तों से संबंधित पक्ष, या तैयारियों की सही स्थिति का जायजा लिया जा सके। उन्हें सभी कुछ स्थल सेनाध्यक्ष के माध्यम से ही पता चलता है। यहां तक कि सशस्त्र सेनाओं के सर्वोच्च कमांडर, भारत के राष्ट्रपति के पास भी सेना के मामलों को जानने का कोई जरिया नहीं है। 1962 में तत्कालीन राष्ट्रपति राधाकृष्णन् तथा सभासदों की नेफा-यात्रा के दौरान यह बात प्रकट हुई थी। यह बात पाकिस्तान के बारे में ही उतनी ही सच है, जिसे हमसे बड़ी पराजय का सामना करना पड़ा और फलस्वरूप, 1971 में उसका विघटन हो गया। मेज० जन० फजल मुकीम खान, जिन्हें सैन्य मामलों की आलोचना करने के कारण थल सेना से सेवानिवृत्त होने को विवश कर दिया गया था, तथा बाद में 1972 में भुट्टो द्वारा सेना में वापस लाया गया था, ने अपनी पुस्तक 'पाकिस्तान : क्राइसिस इन लीडरशिप' (पृष्ठ 257) में लिखा है :

"प्रतिरक्षा के विषय को सिर्फ कुछ चुनिंदा हाथों में सीमित करके रख दिया गया। न तो इसपर जनता द्वारा कभी विचार-विमर्श हो सका और न ही कभी त्रुटिपूर्ण कार्यों के लिए ज़िम्मेदार लोगों से जवाब-तलब किया गया। जनता के प्रति उत्तरदायित्व के अभाव ने हमें पिछली गलतियों से कुछ भी सीखने से वंचित रखा। इससे हमारी सैन्य क्षमता के विषय में एक भ्रामक तस्वीर बन गई।"

उपर्युक्त कथन हमारे देश की मौजूदा स्थिति पर भी लागू होता है। यदि सेना के मामले इसी तरह चलते रहे तो कोई आश्चर्य नहीं कि हमें पाकिस्तान से भी ज्यादा बड़ी कीमत चुकानी पड़े।

1971 की विनाशकारी हार की विस्तृत चर्चा करते हुए मुकीम खान ने यह भी लिखा है (पृष्ठ 258-259):

"सही ढंग से गठित राजनैतिक सरकार न होने के कारण, उच्च पदों पर अफसरों की नियुक्ति और पदोन्नति का काम एक ही व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर था। धीरे-धीरे व्यक्तियों के कल्याण के लिए संस्था के कल्याण की बलि चढ़ने लगी।···उच्च पदों पर आसीन उन अफसरों को लगातार सेवा से निकाला जाता रहा जिन्होंने ज़रा भी स्वतंत्र दृष्टिकोण का परिचय दिया। कुछ अफसरों ने निराश होकर स्वयं ही सेना की नौकरी छोड़ दी।"

उपर्युक्त टिप्पणी हमारी अपनी सेना के मामलों को भी समान रूप से प्रतिबिंबित करती है जबकि हमारे देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था है। कृष्णा मेनन ले० जनरल बी० एम० कौल की पदोन्नति के लिए ज़िम्मेदार हो सकते हैं, पर हर स्थल सेनाध्यक्ष ने मनमाने अधिकारों के रहते अपने गुट के अफसरों के हितों की खातिर पदोन्नति प्रणाली का दुरुपयोग किया। जैसाकि हम इस अध्याय में बाद में देखेंगे, अनेक अफसर, जिनमें अनिवार्य व्यावसायिक योग्यता की कमी थी, जो युद्ध और शांति दोनों ही समय सैनिकों की कमान संभालने में पूर्णतया विफल रहे थे, जिनका कोर्ट मार्शल हो चुका था, यहां तक कि कुछ का दोष भी सिद्ध हो चुका था, भारतीय थल सेना में ब्रिगेडियर / मेजर जनरल और उससे भी ऊपर के पदों तक पहुंचने में कामयाब हो गए।

आर्मी ऐक्ट बनाते समय संसद् की भावना यह रही थी कि सेना में पदोन्नतियों और कार्यकाल बढ़ाने संबंधी मामले एक स्वतंत्र और निष्पक्ष अधिकारी यानी राष्ट्रपति द्वारा निपटाए जाएं जैसाकि ब्रिटेन सहित अन्य सभी लोकतांत्रिक देशों में होता है, लेकिन व्यवहार में ये अधिकार स्थल सेनाध्यक्ष ने स्वयं ले लिए और इस प्रकार यह परंपरा हमारे यहां भी चलती रही है। ब्रितानी राज के दिनों से चले आ रहे पुराने प्रतिरक्षा सेवा नियम संख्या 117 के तहत, भारतीय थल

सेना में पदोन्नति और कार्यकाल बढ़ाने संबंधी अधिकार सेनाध्यक्ष और अन्य जनरलों के हाथों में ही सीमित था। उसमें एक बेहतर संशोधन, 1962 में हुआ, जिसके अनुसार पदोन्नति और कार्यकाल बढ़ाने के अधिकार पूर्णतः सेनाध्यक्ष को दे दिए गए और रक्षा मंत्रालय मात्र रबड़ की मोहर लगाने के योग्य रह गया। फलस्वरूप प्रत्येक सेनाध्यक्ष ने अपने-अपने उम्मीदारों को लाने की गरज से उच्च कमान के पदों पर चयन के आधार को या तो बहुत बदल डाला या उसमें ऊपरी संशोधन कर लिया। यदि किसीने इस संबंध में सेनाध्यक्ष के अधिकार-क्षेत्र को चुनौती देने की चेष्टा की तो उसे भयानक परिणामों को भुगतने के लिए तैयार रहना पड़ा, जैसाकि हाल ही में एक ब्रिगेडियर से संबंधित मामले के न्यायालय में पहुंच जाने पर हुआ है।

बहरहाल इन पिछले वर्षों में आपसी हितों और लाभों पर आधारित एक पूर्व समझौता गठित हुआ है। रक्षामंत्री अथवा उनका मंत्रालय इस बात से भली भांति परिचित हैं कि ये मनमाने अधिकार गैरकानूनी हैं, लेकिन वह इसपर कोई एतराज इसलिए नहीं करते क्योंकि मौका पड़ने पर इससे पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है। मंत्रालय अधिकांशतः सेनाध्यक्ष द्वारा किए गए चुनावों पर अपनी सहमति प्रकट कर देता है। केवल उन्हीं मामलों में मंत्रालय का हस्तक्षेप होता है, जहां चयन से संबंधित अफसरों की प्रबल राजनैतिक पहुंच होती है। इसका परिणाम हमारी सेना के लिए काफी घातक रहा है। सेवारत अफसर इसे अच्छी तरह जानते हैं। कुछ मुंहफट कमांडरों ने तो हिम्मत करके अपनी प्रतिक्रियाओं को *'क्वार्टरली समरी आफ इंटेलिजेंस रिपोर्ट्स'* में भी प्रस्तुत किया है।

तीस हजार से ज्यादा अफसरों वाली थल सेना में उच्चपदों के लिए बहुत कम स्थान अधिकृत हैं। दो वर्ष पूर्व के आंकड़े इस प्रकार हैं:

जनरल	1
लेफ्टिनेंट जनरल	24
मेजर जनरल	88
ब्रिगेडियर	204
कर्नल	224
लेफ्टिनेंट कर्नल	1298

मेजर तक के पदों पर समयावधि के आधार पर पदोन्नतियां होती हैं। इसके बाद यह सेनाध्यक्ष का अधिकार है। ले० जनरल और मेजर जनरल कुल अधिकृत अफसर संख्या का 0·3 प्रतिशत तथा ब्रिगेडियर 0·6 प्रतिशत है। प्रथम चयन पद यानी ले० कर्नल के पद, कुल संख्या का 4 प्रतिशत हैं। यदि सेना के इस अभिजात वर्ग का चयन सेनाध्यक्ष अथवा उनके गुट के लोगों की इच्छा और सनक पूरी करने के लिए होता है, जैसेकि इतने सारे वर्षों से होता रहा है, तो मैं यह पाठक के

"प्रतिरक्षा के विषय को सिर्फ कुछ चुनिंदा हाथों में सीमित करके रख दिया गया। न तो इसपर जनता द्वारा कभी विचार-विमर्श हो सका और न ही कभी त्रुटिपूर्ण कार्यों के लिए ज़िम्मेदार लोगों से जवाब-तलब किया गया। जनता के प्रति उत्तरदायित्व के अभाव ने हमें पिछली गलतियों से कुछ भी सीखने से वंचित रखा। इससे हमारी सैन्य क्षमता के विषय में एक भ्रामक तस्वीर बन गई।"

उपर्युक्त कथन हमारे देश की मौजूदा स्थिति पर भी लागू होता है। यदि सेना के मामले इसी तरह चलते रहे तो कोई आश्चर्य नहीं कि हमें पाकिस्तान से भी ज्यादा बड़ी कीमत चुकानी पड़े।

1971 की विनाशकारी हार की विस्तृत चर्चा करते हुए मुकीम खान ने यह भी लिखा है (पृष्ठ 258-259) :

"सही ढंग से गठित राजनैतिक सरकार न होने के कारण, उच्च पदों पर अफसरों की नियुक्ति और पदोन्नति का काम एक ही व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर था। धीरे-धीरे व्यक्तियों के कल्याण के लिए संस्था के कल्याण की बलि चढ़ने लगी।...उच्च पदों पर आसीन उन अफसरों को लगातार सेवा से निकाला जाता रहा जिन्होंने ज़रा भी स्वतंत्र दृष्टिकोण का परिचय दिया। कुछ अफसरों ने निराश होकर स्वयं ही सेना की नौकरी छोड़ दी।"

उपर्युक्त टिप्पणी हमारी अपनी सेना के मामलों को भी समान रूप से प्रतिबिंबित करती है जबकि हमारे देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था है। कृष्णा मेनन ले० जनरल बी० एम० कौल की पदोन्नति के लिए ज़िम्मेदार हो सकते हैं, पर हर स्थल सेनाध्यक्ष ने मनमाने अधिकारों के रहते अपने गुट के अफसरों के हितों की खातिर पदोन्नति प्रणाली का दुरुपयोग किया। जैसाकि हम इस अध्याय में बाद में देखेंगे, अनेक अफसर, जिनमें अनिवार्य व्यावसायिक योग्यता की कमी थी, जो युद्ध और शांति दोनों ही समय सैनिकों की कमान संभालने में पूर्णतया विफल रहे थे, जिनका कोर्ट मार्शल हो चुका था, यहां तक कि कुछ का दोष भी सिद्ध हो चुका था, भारतीय थल सेना में ब्रिगेडियर / मेजर जनरल और उससे भी ऊपर के पदों तक पहुंचने में कामयाब हो गए।

आर्मी ऐक्ट बनाते समय संसद् की भावना यह रही थी कि सेना में पदोन्नतियों और कार्यकाल बढ़ाने संबंधी मामले एक स्वतंत्र और निष्पक्ष अधिकारी यानी राष्ट्रपति द्वारा निपटाए जाएं जैसाकि ब्रिटेन सहित अन्य सभी लोकतांत्रिक देशों में होता है, लेकिन व्यवहार में ये अधिकार स्थल सेनाध्यक्ष ने स्वयं ले लिए और इस प्रकार यह परंपरा हमारे यहां भी चलती रही है। ब्रितानी राज के दिनों से चले आ रहे पुराने प्रतिरक्षा सेवा नियम संख्या 117 के तहत, भारतीय थल

सेना में पदोन्नति और कार्यकाल बढ़ाने संबंधी अधिकार सेनाध्यक्ष और अन्य जनरलों के हाथों में ही सीमित था। उसमें एक बेहतर संशोधन, 1962 में हुआ, जिसके अनुसार पदोन्नति और कार्यकाल बढ़ाने के अधिकार पूर्णतः सेनाध्यक्ष को दे दिए गए और रक्षा मंत्रालय मात्र रबड़ की मोहर लगाने के योग्य रह गया। फलस्वरूप प्रत्येक सेनाध्यक्ष ने अपने-अपने उम्मीदवारों को लाने की गरज से उच्च कमान के पदों पर चयन के आधार को या तो बहुत बदल डाला या उसमें जरूरी संशोधन कर लिया। यदि किसीने इस संबंध में सेनाध्यक्ष के अधिकार-क्षेत्र को चुनौती देने की चेष्टा की तो उसे भयानक परिणामों को भुगतने के लिए तैयार रहना पड़ा, जैसाकि हाल ही में एक ब्रिगेडियर से संबंधित मामले में न्यायालय में पहुंच जाने पर हुआ है।

बहरहाल इन पिछले वर्षों में आपसी हितों और लाभों पर आधारित एक पूर्व समझौता गठित हुआ है। रक्षामंत्री अथवा उनका मंत्रालय इस बात से भली भांति परिचित हैं कि ये मनमाने अधिकार गैरकानूनी हैं, लेकिन वह इनपर कोई एतराज इसलिए नहीं करते क्योंकि मौका पड़ने पर इनसे पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है। मंत्रालय अधिकांशतः सेनाध्यक्ष द्वारा किए गए चुनावों पर अपनी सहमति प्रकट कर देता है। केवल उन्हीं मामलों में मंत्रालय का हस्तक्षेप होता है, जहां चयन से संबंधित अफसरों की प्रबल राजनैतिक पहुंच होती है। इसका परिणाम हमारी सेना के लिए काफी घातक रहा है। सेवारत अफसर इसे अच्छी तरह जानते हैं। कुछ मुंहफट कमाण्डरों ने तो हिम्मत करके अपनी प्रतिक्रियाओं को 'क्वार्टरली समरी आफ इंटेलिजेंस रिपोर्ट्स' में भी प्रस्तुत किया है।

तीस हजार से ज्यादा अफसरों वाली थल सेना में उच्चपदों के लिए बहुत कम स्थान अधिकृत हैं। दो वर्ष पूर्व के आंकड़े इस प्रकार हैं:

जनरल	1
लेफ्टिनेंट जनरल	24
मेजर जनरल	82
ब्रिगेडियर	204
कर्नल	224
लेफ्टिनेंट कर्नल	1298

मेजर तक के पदों पर समयावधि के आधार पर पदोन्नतियां होती हैं। इसके बाद यह सेनाध्यक्ष का अधिकार है। ले० जनरल और मेजर जनरल कुल अधिकृत अफसर संख्या का 0·3 प्रतिशत तथा ब्रिगेडियर 0·6 प्रतिशत है। प्रथम चयन पद यानी ले० कर्नल के पद, कुल संख्या का 4 प्रतिशत हैं। यदि सेना के इस अभिजात वर्ग का चयन सेनाध्यक्ष अथवा उनके गुट के लोगों की इच्छा और सनक पूरी करने के लिए होता है, जैसेकि इतने सारे वर्षों से होता रहा है, तो मैं यह पाठक के

निर्णय पर छोड़ता हूं कि युद्ध में इसके क्या परिणाम होते होंगे। हम खुशकिस्मत हैं कि पाकिस्तान के सामने भी यही समस्या है। लेकिन उसने निष्ठा और दृढ़ता के द्वारा कुछ सीमा तक इसपर काबू पा लिया है। लेकिन हमारे सामने इसके अलावा उत्तर में भी एक मोर्चा है। कम्युनिस्ट राज्य आने के बाद से चीनी सेना में व्यावसायिक पुट आ गया है। कुछ भी हो, दूसरे पक्ष में भी यदि कमजोरियां हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी सेना में भी कमजोरियों की छूट दे दें। जहां तक निचले वर्गों का संबंध है, हमारी सेना में दुनिया-भर से ज्यादा श्रेष्ठ सैनिक मौजूद हैं।

1962 की पराजय के बाद कुछ स्वार्थी तत्त्वों ने प्रेस तथा जनता के पास घटनाओं का तथ्यपूर्ण विवरण नहीं पहुंचने दिया। उन्होंने हार का सारा दोष राजनीतिज्ञों के माथे मढ़ दिया। उनका कहना था कि राजनीतिज्ञों ने सेना की जरूरतों की हमेशा उपेक्षा की तथा अन्य पदों पर पदोन्नतियों के मामले में दखलंदाजी की। ले० जनरल हेंडरसन ब्रुक्स ने पराजय के संबंध में जांच की थी। यह जांच उन्होंने सेना के अधिकारियों की जरूरत के मुताबिक ही की। यह एक जानी-मानी बात थी कि जन० ब्रुक्स कौल के प्रति कुछ शत्रुता का भाव रखते थे। युद्ध के बाद नेहरू के टूट जाने और मेनन के मंत्रिमंडल से निकल जाने के बाद कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो पराजय की न्यायिक जांच करा पाता। पुलिस की गोली से कुछ गुंडों की मृत्यु पर तो विधायक लोग जांच आयोग और न्यायिक जांच की मांग करने लगते हैं, पर उन्होंने इस बात में कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई कि युद्ध में हजारों जवानों और अफसरों की मृत्यु (मृत—1,383, लापता—1,696, बंदी 3,968; कुल संख्या = 7,047) के कारणों की भी न्यायिक जांच कराई जाए। जनरल चौधरी ने एक चतुर राजनीतिज्ञ की तरह स्थिति का पूरा फायदा उठाया और सेना की उच्चकमान के लिए ज्यादा मनमाने अधिकार हासिल कर लिए। इसके बाद तो सेना के मामलों में उन्हें और उनके उत्तराधिका-रियों को पूरी छूट रही।

नेफा युद्ध का कुल नतीजा यह था कि सेनाओं को जनता और प्रेस से अछूता रखने और सेनाध्यक्ष के हाथों में असीमित अधिकार बनाए रखने की नीति अनवरत रूप से चलती रही। परिणामस्वरूप आरक्षी सेनाओं की स्थिति और बिगड़ गई। उच्च अफसर पाकिस्तान और चीन की ओर से खतरे को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते रहे। इस तरह अच्छे से अच्छे हथियारों की मांग कर उन्हें प्राप्त करते रहे। लेकिन उन्होंने अच्छी मशीन के पीछे सही आदमी खड़ा करने की ओर ध्यान नहीं दिया, जिससे हथियारों की क्षमता व्यर्थ हो गई। नैतिक बल का इन्सानी रिश्तों से सीधा संबंध है। संभावित दुश्मन सेना के इस पहलू का पूरा फायदा उठाता है। इसके लिए वह महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन कमांडरों के साथ समझौता करने या

अन्य दांव-पेचों का सहारा लेता है।

अगले अनुच्छेदों में मैं [illegible] मामलों का वर्णन कर रहा हूं, [illegible] दुर्भावना नहीं है। मेरा उद्देश्य नीति निर्धारकों, [illegible] और [illegible] जानकारी देना है कि हमारी आदर्श सेनाओं में भी कुछ ठीक नहीं है।

मन्त्रियों, जनरलों, कर्नलों और वरिष्ठ अफसरों [illegible] शुरुआत के लिए उपयोगी होगा। सेना की [illegible] चर्चा रही है।

9 पैरा फील्ड रेजिमेंट में जब मैं सब-आल्टर्न था तभी मैं एक [illegible] को भली भांति जानता था। वह काम के प्रति निष्ठावान, और [illegible] थे। साहसिक काम करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। [illegible] हम उनके दृढ़ और सैनिकोचित तरीकों की बड़ी [illegible] (मेजर) के रूप में वह हमारे लिए आदर्श थे। मुझे पता [illegible] कमान संभालने वाले लेफ्ट० कर्नल के पद तक उन्होंने [illegible] बनाए रखे। लेकिन जब उन्हें अपना भविष्य [illegible] सफलता प्राप्त करने के लिए प्रभावशाली लोगों से [illegible] और बड़ी-बड़ी पार्टियां देने लगे। इस [illegible] अपनाने पड़े। जिन सैनिकों के हित का वह [illegible] रुपया उड़ाना शुरू कर दिया। [illegible] भ्रष्टाचार का दोषी पाया गया। उन्हें सजा हुई [illegible] दिया गया। यहां तक कि [illegible] उस अफसर का साथ [illegible] जूनियर अफसर न्याय होता देख, प्रसन्न थे। [illegible] वाले उच्चाधिकारी [illegible] दूर पाये हुए थे।

इसके बाद कुछ अजीब बातें शुरू हुईं। [illegible] एक अन्य मंत्री ने मामले में [illegible] दुर्भाग्य: [illegible] जनरल कोर्ट मार्शल द्वारा दी गई सजा, [illegible] [illegible] दिया।

[illegible]

निर्णय पर छोड़ता हूं कि युद्ध में इसके क्या परिणाम होते होंगे। हम खुशकिस्मत हैं कि पाकिस्तान के सामने भी यही समस्या है। लेकिन उसने निष्ठा और दृढ़ता के द्वारा कुछ सीमा तक इसपर काबू पा लिया है। लेकिन हमारे सामने इसके अलावा उत्तर में भी एक मोर्चा है। कम्युनिस्ट राज्य आने के वाद से चीनी सेना में व्यावसायिक पुट आ गया है। कुछ भी हो, दूसरे पक्ष में भी यदि कमजोरियां हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी सेना में भी कमजोरियों की छूट दे दें। जहां तक निचले वर्गों का संवंध है, हमारी सेना में दुनिया-भर से ज्यादा श्रेष्ठ सैनिक मौजूद हैं।

1962 की पराजय के वाद कुछ स्वार्थी तत्त्वों ने प्रेस तथा जनता के पास घटनाओं का तथ्यपूर्ण विवरण नहीं पहुंचने दिया। उन्होंने हार का सारा दोष राजनीतिज्ञों के माथे मढ़ दिया। उनका कहना था कि राजनीतिज्ञों ने सेना की जरूरतों की हमेशा उपेक्षा की तथा अन्य पदों पर पदोन्नतियों के मामले में दखलंदाजी की। लें० जनरल हेंडरसन ब्रुक्स ने पराजय के संवंध में जांच की थी। यह जांच उन्होंने सेना के अधिकारियों की जरूरत के मुताविक ही की। यह एक जानी-मानी वात थी कि जन० ब्रुक्स कौल के प्रति कुछ शत्रुता का भाव रखते थे। युद्ध के वाद नेहरू के टूट जाने और मेनन के मंत्रिमंडल से निकल जाने के वाद कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो पराजय की न्यायिक जांच करा पाता। पुलिस की गोली से कुछ गुंडों की मृत्यु पर तो विधायक लोग जांच आयोग और न्यायिक जांच की मांग करने लगते हैं, पर उन्होंने इस वात में कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई कि युद्ध में हजारों जवानों और अफसरों की मृत्यु (मृत—1,383, लापता—1,696, वंदी 3,968; कुल संख्या = 7,047) के कारणों की भी न्यायिक जांच कराई जाए। जनरल चौधरी ने एक चतुर राजनीतिज्ञ की तरह स्थिति का पूरा फायदा उठाया और सेना की उच्चकमान के लिए ज्यादा मनमाने अधिकार हासिल कर लिए। इसके वाद तो सेना के मामलों में उन्हें और उनके उत्तराधिका-रियों को पूरी छूट रही।

नेफा युद्ध का कुल नतीजा यह था कि सेनाओं को जनता और प्रेस से अछूता रखने और सेनाध्यक्ष के हाथों में असीमित अधिकार वनाए रखने की नीति अनवरत रूप से चलती रही। परिणामस्वरूप आरक्षी सेनाओं की स्थिति और विगड़ गई। उच्च अफसर पाकिस्तान और चीन की ओर से खतरे को वढ़ा-चढ़ाकर पेश करते रहे। इस तरह अच्छे से अच्छे हथियारों की मांग कर उन्हें प्राप्त करते रहे। लेकिन उन्होंने अच्छी मशीन के पीछे सही आदमी खड़ा करने की ओर ध्यान नहीं दिया, जिससे हथियारों की क्षमता व्यर्थ हो गई। नैतिक वल का इन्सानी रिश्तों से सीधा संवंध है। संभावित दुश्मन सेना के इस पहलू का पूरा फायदा उठाता है। इसके लिए वह महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन कमांडरों के साथ समझौता करने या

अन्य दांव-पेंचों का सहारा लेता है।

अगले अनुच्छेदों में मैं जिन मामलों का वर्णन कर रहा हूं, उनके पीछे कोई दुर्भावना नहीं है। मेरा उद्देश्य नीति-निर्धारकों, विधायकों और जनता को यह जानकारी देना है कि हमारी आरक्षी सेनाओं में सभी कुछ ठीक नहीं है।

मंत्रियों, जनरलों, कर्नलों और कनिष्ठ अफसरों से जुड़ा एक ताजा मामला शुरुआत के लिए उपयोगी होगा। सेना की चारदीवारी के भीतर इसकी काफी चर्चा रही है।

9 पैरा फील्ड रेजिमेंट में जब मैं सब-आल्टर्न था तभी से एक ब्रिगेडियर को भली भांति जानता था। वह काम के प्रति निष्ठावान, और एक मजबूत सिपाही थे। साहसिक काम करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। अपने प्रशिक्षक के रूप में हम उनके दृढ़ और सैनिकोचित तरीकों की बड़ी कद्र करते थे। बैटरी कमांडर (मेजर) के रूप में वह हमारे लिए आदर्श थे। मुझे पता चला था कि रेजिमेंट की कमान संभालने वाले ले० कर्नल के पद तक उन्होंने अपने आदर्श और तरीके बनाए रखे। लेकिन जब उन्हें अपना भविष्य जाम होता नजर आया तो सेना में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रभावशाली लोगों से सम्पर्क बनाने शुरू कर दिए और बड़ी-बड़ी पार्टियां देने लगे। इस खर्च को पूरा करने के लिए उन्हें भ्रष्ट तरीके अपनाने पड़े। जिन सैनिकों के हित का वह पहले ध्यान रखते थे, अब उन्हीं का रुपया उड़ाना शुरू कर दिया। पकड़े जाने पर कोर्ट मार्शल हुआ, जिसमें उन्हें भ्रष्टाचार का दोषी पाया गया। उन्हें सजा हुई तथा सेना की नौकरी से [illegible] दिया गया। यहां तक कि अच्छी रिपोर्ट प्राप्त करने के उद्देश्य से, भ्रष्ट [illegible] उस अफसर का साथ देने वाले लोगों को भी नहीं छोड़ा गया। मेजर के [illegible] जूनियर अफसर न्याय होता देख, प्रसन्न थे। लेकिन स्वयं को [illegible] करने वाले उच्चाधिकारी इससे खुश नहीं थे, क्योंकि इसी तरह के [illegible] खुद फंसे हुए थे।

घूंट पीकर रह जाना पड़ा।

पर अभी इससे भी बुरा होना बाकी था। राजनैतिक क्षेत्र में ब्रिगेडियर के संपर्कों से जनरल लोग आतंकित हो चुके थे। हद तब हुई जब उसने एक मेजर पर दबाव डाला कि वह अपनी युवा पत्नी को उनके पास भेजे। एक मामूली-सी बात पर मेजर के खिलाफ जांच आयोग बिठा दिया गया जिससे उसका पूरा कैरियर चौपट हो सकता था। मेजर ने भी अपनी पहुंच का फायदा उठाया। सामान्यतः वरिष्ठ अफसरों की ऐसी हरकतों पर कोई ध्यान नहीं देता, पर इस मामले में ब्रिगेडियर के खिलाफ तुरंत कार्रवाई की गई और उसकी चालों का भंडाफोड़ हो गया। उन्हें दूसरी बार जनरल कोर्ट मार्शल द्वारा सजा मिली और उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया। लेकिन एक बार फिर ब्रिगेडियर के राजनैतिक सम्पर्कों ने रक्षामंत्री पर असर डाला। सेनाध्यक्ष से कुछ सौदेबाजी हुई और अवकाशप्राप्ति पर उन्हें एक अच्छी राजनैतिक नियुक्ति मिल गई जो मुश्किल से ही सेना के किसी आदमी को मिलती।

ऐसे अनेक उच्च अफसर हैं जो इस तरह की हरकतों के बाद भी आसानी से बच निकलते हैं, पर उसके लिए सेना को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। समूचे अफसर वर्ग का नैतिक बल खत्म हो जाता है। सेना की कार्यक्षमता को ठेस पहुंचती है। संदिग्ध निष्ठावाले उच्च अफसर विदेशी गुप्तचर एजेंसियों को उनके काम के लिए अनुकूल अवसर देते हैं, जो बाद में किसी भी संकट के समय उन्हें कुछ खास काम करवाने के लिए ब्लैकमेल करती हैं। आजादी के बाद से उच्च-स्तर के अफसरों के बीच भ्रष्टाचार, एक स्वीकृत जीवन-पद्धति बन चुका है।

एक मेजर जनरल का मामला भी एक अच्छे अफसर के अधःपतन का ऐसा ही उदाहरण है। आरंभ में वह एक अच्छा सैनिक था, लेकिन बाद में उसने भ्रष्ट तरीके अपनाने शुरू कर दिए और अमेरिका में अनैतिक आचरण के लिए पकड़ा गया। सीनियर अफसर के प्रशिक्षण से निकालकर उन्हें वापस भारत भेज दिया गया। यही नहीं, उन्हें ले० कर्नल के पद से नीचे उतारकर मेजर बना दिया गया ताकि सेनाध्यक्ष के आदेश के मुताबिक वह मेजर के पद पर ही खत्म हो जाएं। जब इस मामले की जानकारी प्रधानमंत्री को हुई तो उन्होंने इच्छा प्रकट की कि संभव हो तो उस अफसर को सेना से ही निकाल दिया जाए। लेकिन बाद में सैनिकों के मनोबल को गिराता हुआ, वह भाई-भतीजावाद और सांप्रदायिकता की मदद से कर्नल बन गया और कुछ समय बाद मेजर जनरल तक का पद प्राप्त करने में सफल हो गया। लगा, जैसे भ्रष्टाचार और उपयुक्त संपर्क ही उच्च पद प्राप्त करने की योग्यता है। उसे सलाह दी गई कि वह सेनाध्यक्ष बदलने तक प्रतीक्षा करे ताकि उसके उच्च संपर्कों के बल पर नये सेनाध्यक्ष द्वारा पदोन्नति के नियमों को उसके हित में घुमाया-फिराया जा सके।

4 इन्फैंट्री डिविजन के जी० एस० ओ०-2 का उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूं जो 1962 के युद्ध में अपनी असफलता तथा अनेक दूसरी कमजोरियों के बावजूद मेजर जनरल के पद तक पहुंच गए थे। जब वह ब्रिटेन में थे तो उन्होंने अवैध रूप से विदेशी मुद्रा एकत्र कर ली थी जिससे उनकी पदोन्नति रोक दी गई थी। एक रेजिमेंट का नेतृत्व करते समय उन्होंने लगभग बगावत की स्थिति पैदा कर दी थी, जिसे दबा दिया गया।

गार्ड बटालियन के कमांडर, एक ले० कर्नल ने सरेआम एक युवा सब-आल्टर्न तथा सूबेदार को घूसों और जूतों से पीटा। उन पर कायरता का आरोप लगाया गया। बंगला देश में अपनी बटालियन की असफलता पर पर्दा डालने के लिए उन्होंने इन कनिष्ठ अफसरों का कोर्ट मार्शल भी करवाया। कर्नल के अनुसार सब-आल्टर्न ने अपनी कंपनी से भागकर कायरता का परिचय दिया था। वह युवा अफसर एक अवकाशप्राप्त सेनाध्यक्ष का संबंधी बताया जाता था। उसे और सूबेदार, दोनों को बरी कर दिया गया। उक्त कर्नल न केवल इस गंभीर अपराध से साफ बच गया, बल्कि घटना के बाद तुरंत मेजर बना दिया गया। आजकल वह मेजर जनरल है। हालांकि 57 माउंटेन डिविजन के मेस में यह घटना काफी समय तक चर्चा का मुद्दा बनी रही, पर सेना के बाहर देश-भर में किसीको भी इस घटना की जानकारी नहीं है।

अमेरिकी थल सेना में जनरल पैटन द्वारा एक 'प्राइवेट' (सामान्य सैनिक) को तमाचा मार देने से काफी खलबली मची थी। जनरल ने ऐसा 'प्राइवेट' के कायर व्यवहार के कारण किया था। पर इसके बाद जनरल पैटन को कभी स्वतंत्र कमान नहीं मिली और उन्हें अपने व्यवहार के लिए क्षमा मांगने का आदेश दिया गया। जनरल आइजनहावर के समर्थन से ही उनकी नौकरी बच पाई थी, पर उनकी पदोन्नति के अवसर बिल्कुल खत्म हो गए जबकि अपने जमाने में वह अमेरिकी सेना के सर्वश्रेष्ठ परिचालन जनरल थे।

जनरल निरंजनप्रसाद का मामला भी सभी जानते हैं। 1962 के दौरान नेफा में उन्होंने 4 इन्फैंट्री डिविजन का नेतृत्व किया था। पराजय के बाद उन्हें परिचालन कमान से हटा दिया गया था, लेकिन बाद में उन्हें फिर नियुक्त कर दिया ताकि 1965 में वह दूसरी हार दिलवा सकें। 1965 के भारत-पाक युद्ध में वह एक चमत्कार की तरह लाहौर की सीमा तक पहुंचने में सफल हो गए थे पर वहां पर कुछ महत्त्वपूर्ण दस्तावेज छोड़कर वह लौट पड़े थे। जो एक बार जो व्यक्ति असफल सिद्ध हो चुका था, उसे उसके सैन्य-राजनैतिक संपर्कों के कारण दूसरी बार भी गड़बड़ करने की छूट दे दी गई।

एक ब्रिगेडियर, जिसे मुख्यतः सैन्य-राजनीतिक हलकों में उसके उच्च संपर्कों के कारण सेना में उच्चतम पद के लिए तैयार किया जा रहा था, 1971 में अपनी

कमान की असफलता का दबाव बर्दाश्त नहीं कर सका। संभागीय कमांडर ने विफलता के लिए उसे इतनी मानसिक यातना पहुंचाई कि उसे आत्महत्या करनी पड़ी।

1965 के युद्ध में पूर्वी सीमा पर मैंने एक ऐसे ब्रिगेडियर को देखा था जो अपनी स्नायुशक्ति खो चुका था। उसे हमेशा अपने क्षेत्र में पाकिस्तानी छाताधारी सैनिकों के उतरने के सपने आते रहते थे। हम सभी के देखते-देखते उसने संभवतः अपना आत्मविश्वास जाग्रत् करने के लिए एक गरीब निहत्ये बिहारी किसान को ठोकरें मारीं। वह कभी निर्णय नहीं ले पाता था।

जब उसे एक कोर की कमान संभालने के लिए चुना गया तो वह अपनी कमजोरी का अहसास करता हुआ अचानक फूट पड़ा, "हम जनरलों का आयात नहीं कर सकते, उन्हें हमको पदोन्नत करना पड़ता है।" उसने अपने दिल में महसूस किया था कि वास्तव में कुछ योग्य मेजर जनरल उपलब्ध थे, पर उसके लिए स्थान बनाने के लिए उन्हें हटा दिया गया था; क्योंकि उनकी पहुंच नहीं थी।

ऐसे ही एक मेजर जनरल ने, जो ढाका पर कब्जे के लिए मुख्यतः जिम्मेदार थे, क्षुब्ध होकर समय से पूर्व अवकाश ग्रहण कर लिया था क्योंकि उनके स्थान पर दूसरे को पदोन्नत कर दिया गया था।

देश के बहुत कम लोग इस बात को जानते हैं कि भारतीय सेना द्वारा मुक्ति दिलाने के फौरन बाद बंगला देश भारत-विरोधी क्यों हो गया। असल में हमारी सेना के कुछ उच्च अफसर वहां की सार्वजनिक संस्थाओं और संपत्ति की लूट-खसोट में लग गए। कुछ कनिष्ठ अफसर भी उनके साथ इस लूट-खसोट में मिल गए। बाद में अनेक कनिष्ठ अफसरों को बलि का बकरा बनाकर उनका कोर्ट मार्शल कर दिया गया। गलत काम की मिशाल पेश करने वाले उच्च अफसरों का कुछ नहीं बिगड़ा, केवल अपवादस्वरूप कुछ अफसरों को जल्दी सेवा निवृत्त अवश्य कर दिया गया। उच्च अफसर मुश्किल से कुछ हजार रुपये मूल्य की वस्तुएं एकत्र कर पाए होंगे, पर बंगला देश के समाचारपत्रों ने यह प्रचार किया कि भारतीय सेना ने बंगला देश को इतना लूटा है, जितना पाकिस्तानियों ने पिछले पच्चीस सालों में भी नहीं लूटा होगा। यद्यपि यह काफी अतिरंजित टिप्पणी थी, लेकिन उच्च अफसरों ने मुक्ति सेना के मुंह पर कालिख पोतने का बहाना जरूर दे दिया था। मेजर जनरल गॉनसाल्वज की तरह यदि सभी जनरल अफसरों ने एक आदर्श प्रस्तुत किया होता तो भारतीय सेना काफी लंबे समय तक के लिए बंगला देशवासियों की कृतज्ञता अर्जित करने में सफल हो गई होती। यदि यह नहीं तो कम से कम बंगला देश के अखबारों में भारतीय सेना के विरुद्ध झूठे आरोप लगने से पहले हमें कुछ ज्यादा समय तो मिल ही गया होता।

मैंने अनेक उदाहरणों में से केवल कुछ ही यहां रखे हैं। ये उदाहरण हमारी

सेना में उच्च स्तरों पर मौजूद कुछ अवांछनीय परंपराओं का संकेत देते हैं। किसी भी तरह के हस्तक्षेप के खटके से मुक्त होकर, इस क्षेत्र में भारतीय नौकरशाही अपने असली रूप में प्रकट हुआ है। वरिष्ठ पदों पर पदोन्नति करने की पद्धति इसके लिए मूलतः दोषी है। पदोन्नतियों और सेना की अन्य सेवाओं से संबंधित नियमों को ब्रिटेन की सामंतवादी जरूरतों को पूरा करने के लिए हमारे यहां बनाया गया था।

यह बात कोई गुप्त नहीं है कि मंत्री, मंत्रालय, तथा सेनाध्यक्ष के बीच अक्सर अपने प्रत्याशियों की पदोन्नति के लिए मोर्चे होते हैं। प्रतिरक्षा सेवा अधिनियम के अंतर्गत उच्चतर कमान के लिए चयन समिति की सेनाध्यक्ष स्वयं अध्यक्षता करता है, या अध्यक्ष मनोनीत कर सकता है। अत: जहां तक सेना में पदोन्नति का सवाल है, संविधान के प्रावधानों तथा आर्मी ऐक्ट के विरुद्ध सेनाध्यक्ष सर्वोच्च अधिकारी है। यह समिति ही अफसरों की पदोन्नति और कार्यकाल के विषय में निर्णय लेती है। यह जानी-मानी बात है कि समिति के सदस्य अपने-अपने प्रत्याशियों की सूची पहले ही लेकर आते हैं और इसके बाद सौदेबाजी शुरू हो जाती है। एक कम्प्यूटर भी है, जिससे पक्षपातरहित निर्णयों की अपेक्षा की जाती है; पर कंप्यूटर की वही बात मानी जाती है जो सेनाध्यक्ष के लिए फायदेमंद हो। आर्मी ऐक्ट में निहित कानून का शासन अभी व्यवहार में कोई प्रभावी रूप नहीं ले पाया है। यही इन सब गड़बड़ियों की जड़ है।

पदोन्नति के विषय पर समय-समय पर नीति-निर्देश जारी होते हैं। ऊपर से देखने पर वे काफी उचित प्रतीत होते हैं, पर व्यवहार में उनका पालन तभी होता है, जब वे शिखर के लोगों के चहेतों की मदद करते हों। पदोन्नति की इस मनमानी पद्धति के कारण केवल वही ब्रिगेडियर और जनरल उच्च पदों पर पहुंचने में सफल हो पाते हैं, जिनकी चर्चा हमने ऊपर की है, जबकि निष्ठावान, वीर और योग्य अफसर या तो हटा दिए जाते हैं या फिर क्षुब्ध होकर स्वयं ही नियतकाल से पहले ही अवकाश ले लेते हैं।

जालंधर में एक बार एक कोर मुख्यालय के कुछ उच्च अफसरों ने सेना में व्याप्त इस बीमारी पर अपने कोर कमांडर के साथ विचार-विमर्श किया। वे लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमारी थल सेना में कम से कम 30 प्रतिशत पदोन्नतियां सेना और मंत्रालय में प्रचलित राजनीति के आधार पर होती हैं। वास्तव में योग्य और सक्षम लोग 30 प्रतिशत से ज्यादा पदोन्नतियां प्राप्त नहीं कर पाते। तथ्यों और आंकड़ों के अभाव में शेष 40 प्रतिशत के बारे में कहा नहीं जा सकता।

जहां पाकिस्तान में भारत के रूप में केवल एक दुश्मन है, वहां हमारे सामने पाकिस्तान के अलावा चीन भी है। हम उनका मुकाबला तभी कर सकते हैं, जब हम अपनी सेनाओं को उन जैसा नेतृत्व प्रदान कर सकें। यह तभी संभव है, जब जनता और प्रेस आपकी सेनाओं के मामलों में रुचि लें और उनमें व्याप्त भार

असंगतियां को दूर किया जाए।

युद्ध में वीरता के पुरस्कार किस तरह हथियाए जाते हैं, इसका उल्लेख यहां किया जा सकता है। अनेक बोगस पुरस्कारों की मुझे व्यक्तिगत जानकारी है। इससे सैनिकों के मनोबल पर सबसे बुरा असर पड़ता है। हमारी सेना में शत-प्रतिशत बोगस पुरस्कार दिए जाने के भी उदाहरण मौजूद हैं। इससे एक छोटी-सी टुकड़ी में अनुशासन की समस्या खड़ी हो जाती है, क्योंकि सैनिक लोग बखूबी समझते हैं कि किसने वास्तव में बहादुरी दिखाई थी और कौन पुरस्कार का अधिकारी है। इसका एक कारण है। कुछ उच्च कमांडर अपने चहेतों को वीरता पदक दिलाकर एक तीर से दो शिकार करते हैं। एक ओर तो वे यह दिखाते हैं कि उनकी टुकड़ी कितनी बहादुर है, जिसके लिए वे झूठे प्रशस्तिपत्र लिखकर मान्यता प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी ओर वे इस तरह से अपना गुट तैयार कर लेते हैं। सही पुरस्कार अनुमानतः दस से बीस प्रतिशत के बीच ही दिए जाते हैं। कोई भी वीरता पुरस्कार मिलने से कुछ इकट्ठा मौद्रिक लाभ और स्थानीय वेतन वृद्धि होती है। तुरंत मौद्रिक लाभ 2,500 रुपये से 10,000 रुपये के बीच तथा अतिरिक्त वेतन वृद्धि 25 से 75 रुपये तक होती है। उच्च कमांडर वीरता पदकों की अनुशंसा किसी अहसान की तरह करते हैं। इन पुरस्कारों की विस्तृत जांच-पड़ताल, अनुसंधान और विश्लेषण से ज्ञात होगा कि इस प्रणाली ने सेना के भीतर मानवीय संबंधों पर कितना घातक प्रभाव डाला है। यह सच है कि अन्य सेनाओं में भी अयोग्य लोगों को पुरस्कार दिए जाते हैं, पर इस कला में हम अग्रणी हैं।

एक ब्रिगेडियर ने मुझको बताया कि 1971 के युद्ध में उसे वीरता या साहस के लिए नहीं बल्कि विशिष्ट सेवाओं के लिए महावीर चक्र प्रदान किया गया था, जो ब्रितानी सेना के डी० एस० ओ० (विशिष्ट सेवा) के समतुल्य है।

महावीर चक्र दुश्मन के सम्मुख असाधारण वीरता प्रदर्शित करने के लिए दिया जाता है। ब्रिगेडियर ने ईमानदारी से स्वीकार कर लिया कि युद्ध से उसका शायद ही कोई वास्ता रहा था। लेकिन बहादुरी की मोहर लग जाने के कारण वह हमेशा बेहतर स्थिति में रहेगा। वह अपने हितैषी के प्रति भी हमेशा कृतज्ञ रहेगा। ऐसा ही कुचक्र हमारी सेना में प्रचलित है।

युद्ध-समाप्ति के बाद नवम्बर, 1962 में मैंने परमवीर चक्रों और दूसरे पुरस्कारों के लिए अनेक अनुशंसाएं देखी थीं जबकि वास्तव में कोई लड़ाई नहीं लड़ी गई थी। 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड के बिना लड़े ही विघटित हो जाने के बावजूद उसे अनेक वीरता पुरस्कार दिए गए। इन पुरस्कारों के लिए नाम मांगे गए तथा कुछ लोगों पर उन्हें थोप दिया गया। ये लोग यह बताते हुए भी लज्जा अनुभव करते हैं कि उन्हें वीरता पुरस्कार कैसे मिले। यहां तक कि परमवीर चक्र भी उस समय अपनी गरिमा खो बैठा, जब यह एक मेजर को मरणोपरांत प्रदान किया

था, लेकिन बाद में जीवित पाया गया। अतः स्थानीय स्तरों पर और सैनिकों को चेतावनी दी गई कि वे गलत बयान न करें। यदि उच्चतम वीरता पुरस्कार के लिए ऐसा हो सकता है तो छोटे पुरस्कार के मामले में क्या कुछ होता होगा, पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं।

1965 के दौरान अफसरों के मेसों में यह चर्चा का आम विषय था कि सिर्फ हमारी सेना में ही ऐसा है कि मेजर जनरल, जिसको दुश्मन से शायद ही कभी सामना करना पड़ता हो, महावीर चक्र जैसा पुरस्कार पा लेते हैं। 1971 के युद्ध में वीरता और अन्य पुरस्कारों का अंधाधुंध बांटा जाना सेना में उपहास का विषय बन गया था। शकरगढ़ क्षेत्र की सैनिक कार्रवाई में, जो हर व्यावहारिक मापदंड से असफल रही थी, प्रत्येक ब्रिगेडियर और उससे ऊपर के अफसर को पुरस्कार दिया गया। मुख्यालय में यह सभी जानते थे कि वीरता-पुरस्कार प्रशस्तियां पहले से ही तैयार करके लाए गए थे, सिर्फ उनमें नाम भरने बाकी थे। हद तो तब हो गई जब कमांडर के हेडक्लर्क ने भी, जिसने कभी मुख्यालय नहीं छोड़ा था, एक प्रशस्तिपत्र में अपना नाम भर दिया और कमांडर को खाली देखकर उनके हस्ताक्षर के लिए प्रशस्तिपत्र को आगे बढ़ा दिया। उसने मुझे बाद में बताया कि वह अपने प्रयास में असफल रहा क्योंकि स्पष्ट कारणों से, कमांडर ने उसके मामले को आगे नहीं बढ़ाया।

एक विशेष क्षेत्र में, जहां मैं उपस्थित था, बहादुरी नहीं बल्कि शोर की दल-बाजी, निजी और साम्प्रदायिक वफादारियां, निजी संबंध तथा अनेक दूसरे बाहरी गुण वीरता पुरस्कार प्रदान करने में निर्णायक तत्त्व बने (जैसाकि नीचे दी गई तालिका के विवरण से स्पष्ट होता है)। मुझको पता चला कि अन्य क्षेत्रों में भी पुरस्कार-पद्धति कमोबेश यही रही, हालांकि कुछ मामलों में उच्चाधिकारी काफी कठोर और निष्पक्ष रहे, पर ऐसे उदाहरण नगण्य हैं।

प्रथम कोर क्षेत्र में वीरता पुरस्कार (शकरगढ़), 1971

इकाई	परमवीर चक्र	महावीर चक्र	वीर चक्र	अन्य सेना पदक	कुल
17 हॉर्स (ए० सी०)	1	2	3	12	18
4 हॉर्स (ए० सी०)	—	1	3	14	18
7 कैवलरी (ए० सी०)	—	—	3	21	24
1 हॉर्स (ए० सी०)	—	—	1	7	8
16 कैवलरी (ए० सी०)	—	—	—	8	8
ग्रेनेडियर्स (इन्फ०)	1	—	3	14	18
14 राजपूत (इन्फ०)	—	—	1	3	4

इकाई	परमवीर चक्र	महावीर चक्र	वीर चक्र	अन्य सेना पदक	कुल
10 जे० ए० के० राइफल्स (इंफें०)	—	—	1	4	5
19 मद्रास और 5 जे० ए० के० (इंफें०)	(प्रत्येक को दो)	—	—	4	4
4 मद्रास (इंफें०)	—	—	2	1	3
3/9 गोरखा (इंफें०)	—	—	2	2	4
1 महार (इंफें०)	—	—	2	2	4
4 डोगरा, 12 महार 9 महार, 4 जे० ए० के० (इंफें०)	(प्रत्येक को एक)	—	—	3	3
13 कुमाऊं (इंफें०)	—	—	—	5	5

यह विवरण थल सेना की पुस्तिकाओं में से लिया गया है। इससे वीरता पुरस्कार दिए जाने की एक विशेष पद्धति स्पष्ट होती है। इस दुखद विषय पर अफसरों के मेसों और जवानों के रसोईघरों में अक्सर चर्चा होती थी। अन्य सेवाओं और अंगों के पुरस्कार इसमें शामिल नहीं किए गए हैं, क्योंकि वे नगण्य थे। विशिष्ट सेवा पुरस्कार भी इस सूची में सम्मिलित नहीं किए गए।

युद्ध की असली मार पैदल सेना पर पड़ती है। दुश्मन से बिल्कुल नजदीक से भिड़ने के कारण पैदल सैनिकों को ही ज्यादा नुकसान उठाने पड़ते हैं। लेकिन इसके बावजूद उन्हें मुश्किल से ही मान्यता मिल पाई। इसका मूल कारण यह था कि सेना का मुख्य कमांडर एक बख्तरबंद कोर अफसर था, जिसकी वफादारी लड़ने वाले सैनिकों के साथ नहीं बल्कि उसकी अपनी कोर तथा पुराने सहयोगियों के साथ थी।

वीरता पुरस्कार इतना हल्का विषय बन गया था कि उच्च कमांडरों ने अपने खास लोगों को पुरस्कार दिलाने के लिए सक्षम पदों पर बैठे अपने मित्रों को अर्धसरकारी पत्र लिखने शुरू कर दिए।

1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान शकरगढ़ क्षेत्र में मैंने एक विलक्षण स्थिति का सामना किया। लगभग एक सौ सैनिकों वाली एक छोटी टुकड़ी (कोर आर्टिलरी सिगनल्स कंपनी), जिसका लड़ाई से कोई वास्ता नहीं था, उस क्षेत्र में भारतीय सेना की सबसे अलंकृत इकाई बन गई। उसके लगभग छः प्रतिशत सैनिकों ने, एक भी खरोंच खाए बिना, वीरता पुरस्कार अर्जित कर लिए। एक ब्रिगेडियर द्वारा कुछ गुप्त उद्देश्यों से सिगनल्स कंपनी के कमान अफसर (मेजर) पर एक वीरता पुरस्कार थोप दिया गया। घटना का दिलचस्प हिस्सा यह है कि

पुरस्कारों की अनुशंसा करने वाले अफसर को विजेताओं के नाम तब तक नहीं मालूम थे, जब तक कि वे घोषित नहीं हो गए। दूसरी ओर असंख्य सहायक बटालियनों को बहादुरी दिखाने और भारी नुकसान उठाने के बावजूद एक भी पुरस्कार नहीं मिल सका। एक मामले में एक कमान अफसर ने अपने नैतिक बल पर पुरस्कार स्वीकार करने से ही इनकार कर दिया। उसका कहना था कि जब तक उसके मातहत अफसरों और उनके जवानों को उनका देय नहीं मिल जाता, वह पुरस्कार ग्रहण नहीं कर सकता। उसने 57 माउंटेन डिविज़न के मुख्यालय के लिए समस्या खड़ी कर दी। बाद में मुझे पता चला कि पुरस्कार स्वीकार न करने के और भी कई मामले थे, लेकिन आर्मी ऐक्ट के प्रावधानों ने उन्हें दबा दिया।

नई दिल्ली के साउथ ब्लाक के गलियारों में वीरता पुरस्कार इस सीमा तक उपहास का विषय बन गए थे कि कहते हैं, तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने जन० मानेकशा से पुरस्कार बंद कर देने को कहा था। अचानक पुरस्कार बंद करने से बहुत-से योग्य सैनिक इनसे वंचित रह गए जिससे कनिष्ठ अफसरों और जवानों में काफी कुंठा फैली थी।

पुरस्कारों के महत्त्व को झुठलाया नहीं जा सकता। वे लड़ने वाले सिपाही का मनोबल बढ़ाते हैं और देश के लिए प्राण न्योछावर करने वाले को उचित मान्यता प्रदान करते हैं, पर जरूरत इस बात की है कि झूठे पुरस्कारों को खत्म करने या कम से कम उनकी संभावनाएं खत्म करने के लिए उचित तरीके खोजे जाएं क्योंकि ये पुरस्कार दुधारी तलवार बन चुके हैं। ये सच्चाई जानने वाले सैनिकों को कुंठाग्रस्त करते हैं तथा उनका मनोबल क्षीण करते हैं।

अध्याय 12

रानीखेत में आमोद-प्रमोद

जून, 1978 में जब मैं रानीखेत में इस पुस्तक के अंतिम अध्याय पूरे कर रहा था, उस दौरान मैंने जो कुछ देखा, उससे शांतिकाल में सैनिक जीवन के एक दिलचस्प और अंदरूनी हिस्से के बारे में उपयोगी जानकारी मिलती है। भूतपूर्व सेना अधिकारियों को पहाड़ी स्थानों पर ठहरने के लिए सैनिक अवकाशगृह में स्थान मिल सकता है, बशर्ते काफी स्थान हो, हालांकि इसमें उनको प्राथमिकता नहीं मिलती। जब मैंने शांतिपूर्ण वातावरण में काम करने के उद्देश्य से किसी पर्वतीय स्थल (रानीखेत या नैनीताल) पर कुछ दिन के लिए सैनिक आवास की मांग की तो मुझे बताया गया कि कहीं भी स्थान खाली नहीं है, क्योंकि आर्मी कमांडर का परिवार शहर में विराजमान है। सौभाग्य से अंततः रानीखेत में थोड़ी-सी जगह मुझको मिल गई।

क्लब, मेस या कहीं भी यदि कोई रानीखेत में ठहरने के स्थान की बात करता तो उसे सीधा जवाब मिलता कि आर्मी कमांडर ने सारी जगह अपने परिवार और मित्रों के लिए रिजर्व करा ली है। रानीखेत में अफसरों और जवानों के बीच वे चर्चा के मुख्य विषय बन गए थे। संभवतः उनकी पत्नी, पुत्र और पुत्र के ससुराल वालों ने अफसरों के मेस के कर्मचारियों तथा उनकी देखभाल के लिए नियुक्त अफसरों की नाक में दम कर दिया था। यह बात उनके व्यवहार से साफ जाहिर होती थी, जिसकी हर जगह चर्चा थी। रेजिमेंट की परंपरा के अनुसार तीन कमरे विशेष रूप से कर्नल कमांडर के लिए आरक्षित रखे जाते हैं; पर इसे ताक पर रखकर वे तीनों कमरे आर्मी कमांडर के परिवार और मित्रों के हवाले कर दिए गए थे। इससे सब तरफ आक्रोश फैला हुआ था। कुमाऊं रेजिमेंट के लिए खास तौर से आरक्षित स्थान को भी एक वरिष्ठ कुमाउंनी अफसर से खाली करवा लिया गया। अब उस स्थान पर जनरल के नवविवाहित पुत्र विराज रहे थे। वह अफसर रेजिमेंट के स्टाफ के बीच काफी लोकप्रिय था, अतः उससे वहां के अफसर और जवान काफी नाराज थे। एक स्टाफ कार और दो जोंगा जीपें चालकों सहित

हमेशा आर्मी कमांडर के परिवार और उनके मित्रों के लिए तैयार रहती थी। इन वाहनों को अफसरों के मेस के नजदीक खड़ा किया हुआ था।

जहां तक भारतीय थल सेना की 'अतिरिक्त संवैधानिक शक्ति के केंद्रों' का संबंध है, जाहिर है, यहां से अभी आपात्स्थिति खत्म नहीं हुई थी। सेना कर्मचारियों से लेकर जवान तक इन बातों से नाराज थे। वरिष्ठ अफसरों सहित अनेक लोगों को यहां स्थान देने के लिए इनकार किया जा चुका था, क्योंकि आर्मी कमांडर का परिवार जो ठहरा हुआ था! यही नहीं, एक भूतपूर्व आई० सी० एस० अफसर सरदार एन० एस० मलिक (जिनका थल सेना के स्थान पर कोई दावा नहीं था) और एक सेवामुक्त जे० एन० ढिल्लों को अवकाशगृह में नियमों के विरुद्ध मामूली दरों पर (10 रुपये प्रतिदिन से भी कम) दो माह से भी ज्यादा समय तक रहने की छूट दी हुई थी। नियमानुसार, "केवल दो सप्ताह ठहरने के लिए आरक्षी सेनाओं के सेवारत और सेवामुक्त अफसरों को यह जगह दी जाती है, नागरिकों को नहीं, ताकि सेना के ज्यादा से ज्यादा अफसर इस सुविधा से लाभ उठा सकें।" चूंकि शिखर के अफसर ही इस नियम को तोड़ रहे थे, इसलिए आरक्षी सेनाओं के सेवारत और सेवामुक्त अफसरों को या तो ऊंचे दामों पर होटलों में ठहरना पड़ रहा था या वे विवश होकर पर्वतीय स्थल से दूर रह रहे थे, जबकि आर्मी कमांडर द्वारा अनधिकृत ढंग से नागरिक अधिकारियों और व्यापारियों को सेना के अवकाशगृह में ठहराकर खुश किया जा रहा था।

परिणामस्वरूप रानीखेत के प्रशिक्षण केंद्र में सभी ओर दबाव और तनाव का वातावरण उत्पन्न हो गया था। वैसे यह इस समय सेना के अधिकांश स्टेशनों पर कमोबेश एक आम बात हो चुकी है। कमांडेंट इतना तनावग्रस्त हो गया था कि उसे आर्मी कमांडर के परिवार, मित्रों और पुत्र के ससुराल के लोगों की जरूरतों के अलावा और कुछ नहीं सूझता था। उच्च कमांडरों और उनके परिवारों के आमोद-प्रमोद और पार्टियों का पूरा खर्च युवा अफसरों को उठाना पड़ा। मेम साहबों के शानदार अर्दलियों के रूप में काम करने वाले कुछ चापलूसों की जमात निरंतर मजबूत हो रही है। जब भी रिक्तियां होंगी, सेना के उच्च कमान पर उनका अधिकार हो जाएगा और पेशेवर सैनिकों का भविष्य अंधकारपूर्ण ही बना रहेगा।

हमारी थल सेना निश्चय ही बदली तो है, लेकिन बदतर रूप में। परंपरा कभी-कभी विकृति की ओर भी ले जाती है।

अध्याय 13

सर्वशक्तिमान गुप्तचरी संगठन

1962 में मेरे छोटे पद और कम अनुभव के कारण गुप्तचरी संगठनों की क्षमताओं के बारे में मेरी समझ काफी सीमित थी। 1962 के संघर्ष के दौरान अनेक अव्याख्येय और असामान्य घटनाएं घटी थीं, पर उनकी ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया। अपने बाद के सेवाकाल में गुप्तचरी संगठन में वरिष्ठ पदों पर काम करके, विदेशी खुफिया एजेंसियों के काम के ढंग का अध्ययन करके तथा जो मैंने स्वयं अनुभव किया था, उसका आकलन करने के बाद, मैं इस आशंका को दूर नहीं कर सका हूं कि 1962 में, खास कर सेला-डिरांग-बोमडिला क्षेत्र में, भारतीय सेना के साथ जो कुछ हुआ, उसमें उच्च स्तर पर भितरघात ने बड़ी भूमिका निभाई थी।

जैसाकि नाम से स्पष्ट है, गुप्तचरी का अर्थ गुप्त सूचना एकत्र करना है। सभी गुप्तचरी संगठनों का मूल कार्य सूचना प्राप्त करना है। यह सूचना नागरिक और सैनिक, दोनों ही तरह की हो सकती है। नागरिक प्रशासन के लिए गुप्तचरी राजनैतिक, आर्थिक, औद्योगिक, शैक्षणिक और अन्य संबंधी मामलों से संबद्ध होती है। सैन्य गुप्तचरी, सामरिक या युद्धनीतिक हो सकती है। जहां सामरिक गुप्तचरी का क्षेत्र काफी व्यापक है, वहां युद्धनीतिक गुप्तचरी युद्धक्षेत्र तक ही सीमित होती है। सामरिक गुप्तचरी लक्ष्य-देश की सैन्य सामर्थ्य से संबंधित होती है। इससे उस देश की शक्ति, आरक्षित स्थलों, महत्त्वपूर्ण ठिकानों, उच्च कमांडरों, संचार-व्यवस्था, कुल युद्ध संसाधनों, भावी योजनाओं, सामरिक और रण-नीतिक विचारधाराओं और मंसूबों का पता लगता है। यह जानकारी एजेंटों की मार्फत या अन्य स्रोतों, जैसे राडार और हवाई सर्वेक्षणों, चित्रों, रेडियो तरंगों और सेनाओं तथा रक्षामंत्रालय के महत्त्वपूर्ण अफसरों के साथ समझौते करके प्राप्त की जाती है। सबसे खतरनाक स्थिति वह होती है, जब प्रधान पदों पर आसीन सैन्य कमांडरों के साथ समझौता कर लिया जाए। विकासशील देशों में इसी तरह की गुप्तचरी की ज्यादा संभावना रहती है। इस तरह के अनेक मामले पश्चिमी

देशों में भी रेकार्ड के रूप में दर्ज है, जहां महत्वपूर्ण पदों पर आसीन अफसरों, राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों ने समझौते कर विदेशी गुप्तचरों द्वारा बताए गए रास्ते पर अमल किया। अपने उद्देश्यों को पूरा करने में ये गुप्तचर मशहूर व्यक्ति की शराब, दौलत और औरत की कमजोरी का पूरा फायदा उठाते रहे हैं।

गुप्तचरी विशेषज्ञ लोगों को अपने जाल में फंसाने के लिए नये-नये तरीके और साधन इजाद करते हैं और बाद में उन्हें अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करते हैं। अधिकांश देशों में सैनिक तथा नागरिक प्रशासन, दोनों ही क्षेत्रों में मजबूत और प्रभावशाली प्रति-गुप्तचरी संगठन हैं, पर समस्या और परिणामों पर नजर रखते हुए भारत में ऐसा कोई संगठन प्रतीत नहीं होता। मुझे डर है, मलिक ने अपनी पुस्तक में गुप्तचरी ब्यूरो की सीमाओं और जिन दबावों में यह संगठन काम करता है, उसकी सही तस्वीर पेश नहीं की है। गुप्तचरी ब्यूरो के कुछ अफसरों से परिचय और उनके साथ काम करने के बाद तथा सीमा सुरक्षा बल, केंद्रीय रिजर्व पुलिस, केंद्रीय जांच ब्यूरो तथा 'रा' (रिसर्च एंड एनालिसिस विंग) के अफसरों के साथ गुप्तचरी पर विचार-विमर्श करने के बाद मैंने पाया है कि इन संगठनों का मुख्य ध्यान राजनैतिक गुप्तचरी पर ही रहता है। प्रति-गुप्तचरी, उच्छेदन, भितरघात और सूचना पहुंचाने वालों—खास कर निरंकुश ढंग से कार्यरत उच्च-स्तरीय अफसरों को खोज निकालना जैसे कामों में ये गुप्तचर अपेक्षाकृत कम ही ध्यान देते हैं।

1968 में रिसर्च एंड एनालिसिस विंग को विदेशी गुप्तचरी के काम में निपटने के लिए संगठित किया गया था, लेकिन बाद में यह भी उसी मर्ज का शिकार हो गई अर्थात् इसका राजनैतिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल होने लगा और इस प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा का उद्देश्य गौण हो गया। जनता सरकार की स्थापना के बाद यह किस तरह से काम कर रही है, मैं ज्यादा कुछ नहीं बता सकता, क्योंकि इसका पुनर्संगठित संचालन स्वरूप अभी अस्थिर अवस्था में ही है।

दो महाशक्तियों के गुप्तचरी संगठन—सी० आई० ए० और के० जी० बी०, अपने यहां की सरकारी नीतियों के व्यापक और प्रबल हथियार हैं। इनका नियोजन कार्य भविष्य में बहुत आगे तक के लिए होता है। अमेरिकी गुप्तचर एजेंसियों का सालाना बजट 6,000 करोड़ रुपये है। सोवियत संघ के गुप्तचरी संगठन पर भी इससे कहीं कम खर्च नहीं होता। उनकी सरकारों द्वारा सिर्फ अपने मंशों और मनसूबों का संकेत-भर देने की देर होती है कि गुप्तचर संगठन अपना काम करने लगते हैं। अपने लक्ष्य के लोगों की कमजोरी पर आधारित करके ये अपना जाल बुनते हैं। खर्च के तुलनात्मक अध्ययन से महाशक्तियों की प्रबलता और विकासशील देशों की असुरक्षा का दिलचस्प संकेत मिलता है।

	बजट (करोड़ डालरों में)	
देश	प्रतिरक्षा	गुप्तचरी
पाकिस्तान	72·5	अज्ञात
भारत	266	4.4
अमेरिका	8,898	622
सोवियत संघ	12,400	अनुमानतः अमेरिका से अधिक
चीन	1,700	अज्ञात

(प्रतिरक्षा बजटों के आंकड़े 'मिलिटरी बैलेंस 1976-77—कंपैरिजन्स फॉर द ईयर, 1975' से लिए गए हैं। गुप्तचरी खर्च के आंकड़े 'द सी० आई० ए० एंड कल्ट आफ इंटेलिजेंस एंड इंडियन एनवल बजट, 1976-77' से लिए गए हैं। इनमें विदेशी गुप्तचरी के लिए आवंटित बजट राशि भी शामिल की गई है। 'रा' के लिए किया गया बजट प्रावधान लिखते समय तक उपलब्ध नहीं था।)

अमेरिका और सोवियत संघ, गुप्तचरी के क्षेत्र में दो प्रमुख स्पर्द्धी हैं। हालांकि इनके खर्च का अधिकांश भाग एक-दूसरे के बारे में ही जानकारी हासिल करने में इस्तेमाल होता है, पर अपनी नीतियों को प्रोत्साहित करने के लिए विकासशील देशों में इनके द्वारा कुछ सौ करोड़ रुपयों का खर्च किया जाना कोई असंभव बात नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि भारत का कुल वार्षिक प्रतिरक्षा बजट (लगभग 3,000 करोड़ रुपये) अमेरिका, सोवियत संघ के कुल गुप्तचरी बजट का आधा भी नहीं है। गुप्तचरी के लिए 622 करोड़ डालर के अमेरिकी बजट प्रावधान की तुलना में भारत में सभी गुप्तचरी एजेंसियों के लिए कुल बजट प्रावधान (1976-77 के आंकड़ों के अनुसार) केवल 4 करोड़ 40 लाख डालर है। चूंकि गुप्तचरी के लिए सोवियत संघ और अमेरिका के बजट प्रावधान लगभग समान हैं, अतः भारत और अन्य विकासशील देशों की गुप्तचरी व्यवस्था की कमज़ोर स्थिति स्पष्ट हो जाती है। दूसरे देशों के गुप्तचरी संगठनों के साथ समझौता गुप्तचरी संगठनों का एक प्राथमिक उद्देश्य होता है। उसे रोकने का एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि संवेदनशील संस्थाओं में उच्च स्तर पर चरित्रवान लोगों को रखा जाए।

अमेरिका में किसी प्रशिक्षण के लिए गए एक अधिकृत अफसर ने मुझे बताया था कि पाकिस्तानी सेना के ब्रिगेडियर (बाद में जनरल) टिक्का खां अमेरिका में अपना प्रशिक्षण सत्र खत्म होते-होते पूरी तरह समझौतापरस्त बन गए थे। औरत के प्रति उनकी कमज़ोरी का अमेरिकी खुफिया विभाग ने पूरा फायदा उठाया। उनके रंगरलियां मनाते चित्र खींचे गए तथा बातचीत को टेप कर लिया गया। जब वह अमेरिका से लौटने लगे तो 'स्मृतिचित्र' के रूप में उन्हें वह सब भेंट किया गया। ज़ाहिर है, यह अमेरिका की किसी बड़ी योजना का सिर्फ एक हिस्सा था।

बहुत संभव है कि इस तरह की कमजोरी का लाभ अनेक भारतीय जनरल अफसरों और अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के संदर्भ में भी उनकी विदेश यात्राओं के दौरान उठाया जाता होगा। वे अफसर इस वर्ग के सम्भवतः सरल शिकार होते हैं, जिन्होंने विदेश यात्रा के निमंत्रण प्राप्त करने में स्वयं को सिद्धहस्त किया हुआ है। हमारे कुछ उच्च कमांडरों की गतिविधियां यह संकेत देती हैं कि चीन और पाकिस्तान से हुए युद्धों के दौरान राष्ट्रीयता और व्यावसायिकता ने उनके निर्णयों को निर्देशित नहीं किया था। 1962, 1965 और 1971 की लड़ाइयों के दौरान कुछ अज्ञात कारणों से उन्हें अत्यधिक अव्यावसायिक और अव्यावहारिक ढंग से काम करने को मजबूर होना पड़ा था। यह बात 1971 में शकरगढ़ युद्ध में स्पष्ट हुई थी, जहां हमारी दस गुना बेहतर फौजों को दो बार पराजय दिखाई गई।

यह सुविदित है कि प्रधान पदों पर आसीन अनेक सैनिक और गैर-सैनिक अधिकारी अपने बंगले विदेशियों को अत्यधिक ऊंचे किराये पर उठा देते हैं, अपने संबंधियों और मित्रों को विदेशों में रोजगार और शिक्षा दिलवाते हैं, या अनेक अनधिकृत लाभ उठाते हैं, तथा बड़े सौदों में कमीशन और पटौतियां स्वीकार करते हैं। एक बार इन एहसानों के तले दबने के बाद और यदि उनमें शराब और औरत के प्रति भी कमजोरी है, तो आधुनिक विद्युतीय यंत्रों और गुप्त फोटोग्राफी के माध्यम से उन्हें आसानी से अपना शिकार बनाया जा सकता है। एक वरिष्ठ अफसर ने मुझे बताया कि 1962 के चीनी युद्ध से पहले एक बहुत बड़े अफसर को उसने एक राजनयिक के घर में किसी स्त्री के साथ रंगरलियां मनाते देखा था। राजनयिक ने एक पार्टी दी थी, जिसमें अनेक सरकारी अफसरों सहित उसे भी आमंत्रित किया था। अफसर ने बताया था कि वह अनजाने ही राजनयिक के घर के दूसरे कोने में चला गया था, जहां उसने यह ओछा दृश्य देखा था। गुप्तचरी ब्यूरो के पास ऐसे लोगों से निपटने के लिए न तो कोई साधन है और न ही पर्याप्त जानकारी।

एक सही ढंग से नियोजित उत्कोचन के माध्यम से प्रेस के साथ भी समझौता कर उसे अपने काबू में किया जा सकता है। ताकतवर और अमीर देशों द्वारा तो ऐसा किया भी जा रहा है। यह उत्कोचन पूर्वी और पश्चिमी, दोनों गुटों के देशों द्वारा किया जाता है। इससे देश में पूर्व समर्थक या पश्चिम समर्थक गुट तैयार हो रहे हैं, जिनकी रुचि राष्ट्रीय हित के लिए मामूली ही होती है। राजनैतिक नेता भी विदेशी ताकतों के एजेंट के रूप में कार्य करते पाए गए हैं। अब विकासशील देश महाशक्तियों की खुफिया एजेंसियों के लिए क्रीड़ा-क्षेत्र बन चुके हैं।

उपर्युक्त विवरण को दृष्टिगत रखते हुए हमारे कुछ शिखर अफसरों या

हत्त्वपूर्ण पदों पर बैठे लोगों द्वारा विदेशी शक्तियों के एजेंट के रूप में काम रने और उनके निर्देशों पर अमल करने या उनकी योजनाओं को फलीभूत करने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। खास तौर से 1962 की टनाओं में तो इस संभावना से बिलकुल नहीं बचा जा सकता। यह बात ऊंचे लकों में उच्छेदन संबंधी मेरी व्यक्तिगत जानकारी पर आधारित है। इसकी ष्टि के लिए निम्नलिखित घटनाएं केवल उदाहरण हैं :

1971 के भारत-पाक युद्ध के बाद एक ब्रिगेडियर ने, जो पाकिस्तानी उच्च फसरों से हुई मुलाकातों में एक लेफ्टि० जनरल के साथ रहे थे, पाकिस्तान के क कनिष्ठ अफसर को यह कहते सुना था कि नई दिल्ली के सैन्य परिचालन नदेशालय में तैयार होने वाली सैन्य कार्रवाइयों संबंधी सभी योजनाओं की चना आसानी से पाकिस्तान के सेना मुख्यालय तक पहुंच जाती थी। जब मैंने ब्रगेडियर से पूछा कि इसकी जांच के लिए उन्होंने क्या कदम उठाए तो उन्होंने बलकुल कोई रुचि दिखाए बिना कहा कि इससे उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता था।

एक दूसरे मौके पर इंजीनियर्स टुकड़ी के एक मेजर (जिनका मुख्यालय ंडीगढ़ में था) से बातचीत करते हुए मुझे पता चला, एक सर्वथा गोपनीय सैन्य रिचालन योजना (लाल किताब सं० 'एक्स') के गुम होने की तभी जानकारी ई, जब एक युद्धबंदी पाकिस्तानी जनरल ने पूछताछ के दौरान ज़िक्र किया कि उसने एक लाल किताब संख्या 'एक्स' को अपने थल सेना मुख्यालय में देखा है। रे मामले को भारतीय सेना में तैनात एजेंटों ने इस तरह घुमा-फिरा दिया कि ताल किताब सं० 'एक्स' को गायब करने और पाकिस्तान तक पहुंचाने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों का कोई सुराग न मिल सके। दस्तावेजों को गायब करने से संबद्ध अफसर अभी भी उच्च और नाज़ुक पदों पर बैठे होंगे तथा अपनी ख़ुफ़िया गतिविधियों में ज्यादा सुरक्षित ठिकानों से और प्रबलता से जुटे होंगे।

1971 के युद्ध से पूर्व इसी तरह की एक और घटना घटी थी। मथुरा में एक कोर मुख्यालय से युद्ध का एक अतिगोपनीय सैन्य परिचालन नक्शा गायब हो गया था। उस नक्शे के बारे में तमाम तरह की अफवाहें फैल गई थीं, यहां तक कि शहर के नागरिकों में भी इसकी चर्चा थी। मथुरा को जासूसी गतिविधियों का बड़ा अड्डा माना जाता है। अतः भितरघात का संदेह था। गुप्तचरी ब्यूरो के उच्च अफसरों ने मामले की जांच की। सभी ओर से मुख्यालय के एक अफसर की ओर उंगली उठी थी, पर इस मामले को अचानक दबा दिया गया। मुजरिमों को पकड़ा नहीं जा सका। हो सकता है, आज वे महत्त्वपूर्ण पदों पर काम कर रहे हों ! असंभव नहीं कि वे किसी नाज़ुक घड़ी में देश को डुबो दें।

मथुरा में ही, एक अन्य मामले में एक ब्रिगेडियर की लड़की अपने पिता के पास अकसर आया करती थी। वह एक ऐसे विदेशी दूतावास में कार्यरत थी.

जिसके मातहत वे साथ कोई ब्यूरो मेंबर नहीं थे। मैंने ब्रिगेडियर को सलाह दी कि वह ब्रिगेड मुख्यालय अपने साथ, पश्चिम पाकिस्तानी कोई भी फ़ौजी संस्थान कागजात लेकर न जाएं, पर ब्रिगेडियर ने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया। नियम-निर्देशों के अनुसार किसी अफसर के युद्ध या युद्ध की तरह मुख्यालय की पूर्व अनुमति के बिना किसी विदेशी दूतावास में नौकरी करने की छूट नहीं है। पर उस ब्रिगेडियर इन नियम का भी उल्लंघन कर रहा था। किसी भी स्थिति में भारी तोपखानों से संबंधित कुछ कार्रवाइयों की, उनका पद, मैं जाना, सब ही उपलब्ध करता था। वही ब्रिगेडियर 1971 के युद्ध में अखनूर सेक्टर में कहीं युद्ध एक नाम करने वाली भारी तोपों को आगे वाली जगह में तैनात करने की कोशिश कर रहा था। वह शिकायत दुश्मन की निगरानी चौकियों के साथ लगा हुआ था, जब वहां पर तोपों को तैनात करना सरासर युद्ध परंपराओं के विरुद्ध था। बाद में दुश्मन ने भी और दूसरे बहुत से उन्हें सेना को इस तरह नष्ट करने के मौके पाए। उनके विभिन्न कदमों से पूर्ण असफलता या विश्वासघात का सुराग साफ झलकता था, पर उनकी गतिविधियों के खिलाफ आई रिपोर्टों को उच्चाधिकारियों ने बिना कोई ध्यान दिए रद्द किया। जरूर इसके लिए प्रभावशाली लोगों का दबाव रहा होगा।

एक अजीब संयोग और देखिए। वही ब्रिगेडियर के॰ ब्रार, जो 1962 में सेना मुख्यालय पर किये गए हमले के खिलाफ था और जिसने सम्भवत: सेना में होशियारसिंह की विजय को आत्मसमर्पण तक में बदलने में कोई ठोस भूमिका निभाई थी, 1971 के युद्ध में अखनूर क्षेत्र में मुहाजिर कोर (हमलावर टुकड़ी) का कोर कमांडर था। अखनूर में जिस ब्रिगेडियर दल से उन्होंने मंद कार्रवाई का संचालन किया, वहां हम पाकिस्तान से कम तुलना मजबूत स्थिति में थे, उनसे प्रभावित होकर उनके मुख्यालय के कुछ अफसरों ने अपनी मुहाजिर कोर के लिए कहना शुरू कर दिया था कि "कोर मुहाजिर (हड़ताल) पर है।" इसकी जानकारी उनके मुख्य कमांडर लेफ्ट. जनरल कैंडेथ को भी थी। मैंने इसी ब्रिगेडियर के नीचे 1965 की अखनूर लड़ाई में काम कर चुके कुछ सैनिकों से बात की थी। पता चला कि उनकी बटालियन ब्रिगेड के इतना कम होना था कि बटालियन रेजिमेंट के ठीक मुकाबल, पर गोले बरसाने के बजाय स्वयं ही एक-दूसरे पर गोलाबारी कर रहे थे और इस प्रकार अपनी सेना को स्वयं नष्ट कर रहे थे। यह सब कैसे हुआ, आज तक न तो कभी स्पष्ट हुआ, न ही उसकी कोई जांच-पड़ताल हुई। यह सही है कि युद्ध के दौरान होने वाली भूलों और गलतियों की हमेशा जांच-पड़ताल करने की जरूरत नहीं होती, पर यदि वे एक खास तरह की या बार-बार होने वाली, संदिग्ध हैं, तो उनकी किसी निष्पक्ष संस्था द्वारा ध्यानपूर्वक जांच की जानी चाहिए

ऐसे और भी अनेक मामले हैं, जिन्हें महज संयोग, असफलता या कोताही अथवा

लड़ाई के कारण हुई निर्णय की भूल कहकर नहीं टाला जा सकता। एक बार युद्ध में असफल सिद्ध हो चुके व्यक्ति को फिर से किसी नाजुक कमान पर या स्टाफ पद पर नियुक्त करना, किसी भी कल्पनाशील व्यक्ति के मन में संदेह उत्पन्न करता है; खास कर तब, जब वह एक गुप्तचरी अफसर रहा हो। उच्चवर्गों में पर्याप्त अनुभवी और अच्छे रेकार्ड वाले अफसरों का कोई अकाल नहीं है। अतः एक बार युद्ध मे अथवा किसी अन्य अवसर पर विफल सिद्ध होने वाले अफसरों की उच्चकमान पदों पर उन्नति की जांच की जानी चाहिए। नाजुक पदों पर अपने एजेंटों को नियुक्त करवाने के लिए, विदेशी गुप्तचर एजेंसियां अफसरों के चयन संगठन को अपना मुख्य लक्ष्य बनाती हैं। ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं, कि सेना मुख्यालय में प्रधान पदों पर विदेश में बसने का विचार रखने वाले लोग आसीन रहे हैं। निश्चय ही वे भारतीय सेना की अंदरूनी तस्वीर तथा अति गोपनीय नक्शों को साथ लेकर गए होंगे। मैंने 1965-66 में अति संवेदी अस्त्र और उपकरण निदेशालय में लगातार दो ऐसे ब्रिगेडियरों के नीचे काम किया था। मैं और भी इस तरह के कितने ही मामले जानता हूं।

आपातस्थिति लागू होने से पहले और बाद में, उच्चस्तर पर ऐसी अनेक घटनाएं हुई, जिनसे सुविचारित उच्छेदन के संकेत मिलते थे। जलंधर में एक कोर मुख्यालय में वरिष्ठ अफसरों के बीच बातचीत का यह प्रमुख विषय बन गया था। इनसे आभास मिलता था कि सेना की उच्च कमान में दो वर्ग कार्यरत हैं, जिनमें एक इंदिरा गांधी का समर्थक है तथा दूसरा उनके विरुद्ध है। सेना को जीतने में इंदिरा गांधी क्यों असफल हुई, यह एक अलग मुद्दा है, जिसे मैं बाद में स्पष्ट करूंगा। स्थल सेनाध्यक्ष जनरल रैना को प्राप्त 'क्वार्टरली समरी आफ इंटेलिजेंस रिपोर्ट्स' पर्याप्त संकेत देती थी कि यदि वह तानाशाही को बढ़ावा देने के लिए इंदिरा गांधी को सेना का समर्थन देने का विश्वास दिलाएं तो पूरी सेना उनके साथ नहीं होगी। इस समय इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जलंधर में एक लेफ्टि० जनरल तत्कालीन सरकार के तौर-तरीकों की खुलकर आलोचना करते थे। वह अपने पूर्ववर्ती अफसर की पूर्णतः भ्रष्ट गतिविधियों की भी खुलेआम निंदा करते थे। यही नहीं, वह जनरलों और ब्रिगेडियरों की बैठक में 'जे० पी० लहर' (जयप्रकाश नारायण की नीतियों का समर्थन) तक की चर्चा करते थे। दूसरी ओर एक अन्य लेफ्टिनेंट जनरल (उनके पूर्ववर्ती) शहर से गुजरती इंदिरा गांधी को अपनी शुभकामनाएं पेश करने के लिए कोई महत्वपूर्ण बैठक तक छोड़कर दौड़ पड़ते थे। सेना की व्यावसायिकता पर विपरीत प्रभाव डालते हुए यही जनरल बाद में सेनाध्यक्ष बन गया, जबकि पहले वाला सिर्फ आर्मी कमांडर ही बन पाया।

पांचवें और छठे दशक के दौरान भारतीय थल सेना में गुटबंदियों का बड़ा बोलबाला था। पश्चिमोन्मुखी उच्च अफसर जन० कौल को बिलकुल पसंद नहीं

करते थे। कौल राष्ट्रवादिता की ओर झुकाव का दावा करते थे मगर अपना अलग गुट तैयार कर रहे थे। 1960 में जब हम स्टाफ कालेज में थे तभी कौल और मानेकशा के आपसी मनमुटाव का हमें आभास मिला था। जिस समय कौल स्टाफ कालेज में हमें एक वार्ता देने आए, तब हमें ऐसा लगा था कि दाल में कुछ काला है। लेकिन सही ढंग से हमें बाद में ही मालूम हो सका था कि स्टाफ कालेज में यह दल किस तरह काम कर रहे थे, खास कर तब जबकि सेना मानेकशा के खिलाफ एक जांच करने का आदेश दिया गया। आरोप था कि उन्होंने विदेशी और भारतीय छात्र अफसरों के सामने कुछ अनुचित टिप्पणियां की थीं। एक अच्छे सैनिक की तरह मानेकशा स्पष्टवक्ता थे। वह सामंतवाद और पुराने पिछड़े-पन के प्रति अपना विरोध तथा पश्चिमी समाज और उसके तौर-तरीकों के प्रति अपने प्रशंसक होने को कभी छिपाते नहीं थे। कभी-कभी वह इन बातों को दोष की सीमा तक कह जाते थे। उनके विरुद्ध जांच ने सेना में कौल-विरोधी और कौल-समर्थक गुट खड़े कर दिए। कौल-समर्थक गुट 1962 के युद्ध तक काफी सक्रिय रहा, लेकिन पराजय के बाद यह टूट गया। प्रतिशोध स्वरूप सेना [illegible] ने पेशे के प्रति निष्ठावान अनेक अफसरों को निकाल दिया, क्योंकि वे विरोधी गुट से संबद्ध थे। हालांकि मेरा कौल से कभी परिचय नहीं रहा, और स्टाफ कालेज के कमांडेंट के रूप में मानेकशा के प्रति मेरा काफी आदर भाव था, पर अपनी संस्कृति और रिवाजों का मजाक उड़ाने की उनकी आदत ने हममें से कुछ लोगों पर बुरा असर ही छोड़ा।

राजनैतिक क्षेत्र में अनेक गुट राजनैतिक या दूसरे कारणों से कृष्णा मेनन को हटाना चाहते थे जबकि सेना के भीतर कौल को किसी भी कीमत पर प्रमुख कर देने के लिए गुटबंदियां चल रही थीं। दूसरी ओर पेशेवर सैनिक अफसर [illegible] रह-कर इस तरह के हालात से निराश हो रहे थे।

उपर्युक्त हालात ने पश्चिमी गुप्तचर एजेंसियों को एक स्वर्ण अवसर प्रदान किया। यह अवसर नेहरू की गुटनिरपेक्ष विदेश नीति, कृष्णा मेनन तथा कौल के लिए मौत की घंटी था। कौल को नेहरू और मेनन के काफी करीब बताया जाता था और कुछ लोगों के अनुसार तो वह कम्युनिस्ट थे। [illegible] इस विषय पर मैं बाद में लिखूंगा। [illegible] [illegible] और पश्चिमी गुप्तचर एजेंसियों का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

गुप्तचरी विभाग में काम कर चुके किसी भी व्यक्ति के लिए यह स्पष्ट होगा कि न्यामका चू तथा ङिरांग जोंग में कुछ कमांडरों और स्टाफ अफसरों के काम करने का ढंग एक समान झलक देता है, जबकि सैन्य-परिचालन की दृष्टि से दोनों जगह पूर्णत: भिन्न स्थितियां थीं। दोनों मुख्यालयों में लड़ाई न लड़ने की स्थिति तैयार की जा रही थी। दोनों ही मुख्यालय सामरिक दृष्टि से अत्यंत असुरक्षित स्थिति में स्थित थे, जबकि अनेक लोग इन मुख्यालयों को सुरक्षित क्षेत्रों में ले जाने का सुझाव दे चुके थे। इस तरह के प्रयास हो रहे प्रतीत होते थे कि सिपाहियों को भी न लड़ने दिया जाए। कई वरिष्ठ अफसरों की इस बात में काफी दम लगता है कि वालोंग क्षेत्र में भी ढर्रा लगभग वही था, अलबत्ता वालोंग में हुए 'मुकाबले' को काफी बढ़ाया-चढ़ाया गया था। चीनी फौजें किसी भी तरह हमसे बेहतर नहीं थीं और उन्हें वालोंग में भी आसानी से मार भगाया जा सकता था, लेकिन हमारी सेनाओं को तो अपनी पोजीशनें छोड़कर भागने के लिए विवश कर दिया गया। एक बार बनी-बनाई प्रतिरक्षात्मक पोजीशनों को छोड़ देने के बाद सैनिकों पर कोई नियंत्रण नहीं रह गया था, ठीक उसी तरह, जैसेकि कामेंग डिविजन में नहीं रहा था।

चीनियों को भी, लगता है, भारतीय सेना के उच्च कमान के अपेक्षित रवैये की पूर्ण जानकारी थी—जैसे उन्हें मालूम था कि भारतीय सैनिकों को कहीं से युद्ध न लड़ने के निर्देश मिले हुए हैं। हालांकि न्यामका चू की लड़ाई के प्रथम चरण में चीनी एक पूरी डिविजन लेकर आए थे और वे आक्रमण करने के लिए अपेक्षित प्रबलतर स्थिति में थे, पर भारतीय फौजों की पूर्ण निष्क्रियता देखकर वे निश्चय ही आश्चर्यचकित हुए होंगे। हैरानी की बात ही थी कि सैन्य कार्रवाई का केंद्रबिंदु, ब्रिगेड मुख्यालय, चीनियों की बढ़त रोकने के लिए कोई कदम उठाए बिना अचानक खत्म हो गया था।

संभवत: उनके जासूसों ने उन्हें सूचित कर दिया था कि 4 संभागीय मुख्यालय के साथ भी पहले जैसा ही रंग-ढंग रहेगा और सेला-बोमडिला में तैनात सैनिक लड़ाई नहीं करेंगे। लगता है, किसीने बिना युद्ध के इस विध्वंस को काफी अच्छे ढंग से नियोजित किया था, अन्यथा चीनियों में इतना साहस नहीं था कि वे पूर्णत: तैयार प्रतिरक्षात्मक स्थिति में बैठी भारतीय सेना से लड़ने के लिए इतनी कम संख्या में सैनिक भेजते, जबकि हथियारों और रणनीतिक ठिकानों की दृष्टि से वह पूरी तरह अलाभकर स्थिति में थे। शायद उन्हें यह विश्वास था कि भारतीय सेना टुकड़ियों को नियंत्रित करने वाला संभागीय मुख्यालय खुद-ब-खुद विघटित हो जाएगा और भारतीय सैनिक युद्ध के दूसरे चरण (नवंबर, 1962) में तमाम फायदों के रहते हुए भी बिना लड़े ही मैदान छोड़कर भाग खड़े होंगे। एक पूर्ण प्रशिक्षित और साधन-संपन्न लड़ाकू सेना, जिसमें बाकायदा तैयार खाइयों में

प्रतिरक्षात्मक मोर्चा लिए परेशे हुए सैनिक थे तथा जिसका नेतृत्व एक सक्षम कमांडर कर रहा था, की विफलता के लिए कोई अन्य विश्वसनीय स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता, सिवाय इसके कि उन्हें दुश्मन का हमला होने से पहले ही अपने देश का प्रतिरक्षात्मक मोर्चा छोड़कर भागने का आदेश दिया गया था।

इस बात की भरपूर संभावना प्रतीत होती है कि पश्चिमी और चीनी गुप्तचर एजेंसियों ने अपने-अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए परस्पर विरोधी संबंधों के बावजूद आपस में सहयोग किया था और निश्चय ही उन्हें अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त हुई। नेहरू की गुटनिरपेक्षता की नीति रातोंरात प्रभावहीन हो गई। उनको उन्हीं पश्चिमी ताकतों से हथियार मांगने पड़े, जिनकी नीतियों की वह आलोचना करते आए थे। जरूरत पड़ने पर पश्चिमी ताकतें ही सच्ची मित्र सिद्ध हुई जबकि गुटनिरपेक्ष शक्तियों ने मामूली रुचि दिखाई। जहां तक सेना का संबंध है, 1962 के बाद से पश्चिमोन्मुखी गुट के अन्य अफसरों ने सेना के मामलों को अपने अधिकार में ले लिया। न्यामका चू में मिली विफलता के ढंग तथा एक महीने बाद सेला, डिराग जोंग और बोमडिला की पराजय में उसकी पुनरावृत्ति को देखते हुए यह संकेत मिलता है कि तीनों जगहों पर एक ही अज्ञात संस्था द्वारा जाल बिछाया गया था, जिसने तीनों जगह समान ढंग से निर्देशन कर अपने मंसूबों में कामयाबी हासिल की। पराजय से संबंधित सूत्रों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

(1) न्यामका चू में पहले ब्रिगेड मुख्यालय विघटित हुआ था न कि बटालियनें, जैसाकि सामान्यतः होता है। डिराग जोंग में भी पूर्णतया यही तरीका दोहराया गया।

(2) ब्रिगेड मुख्यालय को न्यामका चू के किनारे एक समतल भूमि पर स्थापित किया गया था। यह स्थान रणनीतिक दृष्टि से काफी असुरक्षित था। यहां तक कि सिर्फ छः वर्ष के अनुभव वाला कोई कनिष्ठ कमांडर भी ऐसे असुरक्षित ठिकाने को मुख्यालय के लिए नहीं चुनता, जबकि किसी ऊंचे स्थान पर या बटालियन के भीतर ही किसी जगह पर स्थापित किया जा सकता था। इसी तरह 4 इन्फेंट्री डिविजन का मुख्यालय भी काफी असुरक्षित स्थल पर स्थापित किया गया, जबकि बेहतर और बनी-बनाई खाइयों वाला स्थान उपलब्ध था। उन खाइयों के निर्माण पर इंजीनियरों ने काफी मेहनत की थी तथा इस काम में काफी साधन खर्च किए गए थे, पर इसके बावजूद उनका इस्तेमाल तक नहीं किया गया।

(3) 7 ब्रिगेड मुख्यालय और 4 इन्फेंट्री डिविजन मुख्यालय अपने उच्चतर और निम्नतर मुख्यालयों से एकतरफा संचार भंग कर देते थे। यह कदम तमाम प्रशिक्षणों के विरुद्ध था तथा इससे सिगनल उपकरण नष्ट हो रहे थे।

गुप्तचरी विभाग में काम कर चुके किसी भी व्यक्ति के लिए यह स्पष्ट होगा कि न्यामका चू तथा डिरांग जोंग में कुछ कमांडरों और स्टाफ अफसरों के काम करने का ढंग एक समान झलक देता है, जबकि सैन्य-परिचालन की दृष्टि से दोनों जगह पूर्णतः भिन्न स्थितियां थीं। दोनों मुख्यालयों में लड़ाई न लड़ने की स्थिति तैयार की जा रही थी। दोनों ही मुख्यालय सामरिक दृष्टि से अत्यंत असुरक्षित स्थिति में स्थित थे, जबकि अनेक लोग इन मुख्यालयों को सुरक्षित क्षेत्रों में ले जाने का सुझाव दे चुके थे। इस तरह के प्रयास हो रहे प्रतीत होते थे कि सिपाहियों को भी न लड़ने दिया जाए। कई वरिष्ठ अफसरों की इस बात में काफी दम लगता है कि वालोंग क्षेत्र में भी ढर्रा लगभग वही था, अलबत्ता वालोंग में हुए 'मुकाबले' को काफी बढ़ाया-चढ़ाया गया था। चीनी फौजें किसी भी तरह हमसे बेहतर नहीं थीं और उन्हें वालोंग में भी आसानी से मार भगाया जा सकता था, लेकिन हमारी सेनाओं को तो अपनी पोजीशनें छोड़कर भागने के लिए विवश कर दिया गया। एक बार बनी-बनाई प्रतिरक्षात्मक पोजीशनों को छोड़ देने के बाद सैनिकों पर कोई नियंत्रण नहीं रह गया था, ठीक उसी तरह, जैसेकि कामेंग डिविज़न में नहीं रहा था।

चीनियों को भी, लगता है, भारतीय सेना के उच्च कमान के अपेक्षित रवैये की पूर्ण जानकारी थी—जैसे उन्हें मालूम था कि भारतीय सैनिकों को कहीं से युद्ध न लड़ने के निर्देश मिले हुए हैं। हालांकि न्यामका चू की लड़ाई के प्रथम चरण में चीनी एक पूरी डिविज़न लेकर आए थे और वे आक्रमण करने के लिए अपेक्षित प्रबलतर स्थिति में थे, पर भारतीय फौजों की पूर्ण निष्क्रियता देखकर वे निश्चय ही आश्चर्यचकित हुए होंगे। हैरानी की बात ही थी कि सैन्य कार्रवाई का केंद्रबिंदु, ब्रिगेड मुख्यालय, चीनियों की बढ़त रोकने के लिए कोई कदम उठाए बिना अचानक खत्म हो गया था।

संभवतः उनके जासूसों ने उन्हें सूचित कर दिया था कि 4 संभागीय मुख्यालय के साथ भी पहले जैसा ही रंग-ढंग रहेगा और सेला-बोमडिला में तैनात सैनिक लड़ाई नहीं करेंगे। लगता है, किसीने बिना युद्ध के इस विध्वंस को काफी अच्छे ढंग से नियोजित किया था, अन्यथा चीनियों में इतना साहस नहीं था कि वे पूर्णतः तैयार प्रतिरक्षात्मक स्थिति में बैठी भारतीय सेना से लड़ने के लिए इतनी कम संख्या में सैनिक भेजते, जबकि हथियारों और रणनीतिक ठिकानों की दृष्टि से वह पूरी तरह अलाभकर स्थिति में थे। शायद उन्हें यह विश्वास था कि भारतीय सैन्य टुकड़ियों को नियंत्रित करने वाला संभागीय मुख्यालय खुद-ब-खुद विघटित हो जाएगा और भारतीय सैनिक युद्ध के दूसरे चरण (नवंबर, 1962) में तमाम फायदों के रहते हुए भी बिना लड़े ही मैदान छोड़कर भाग खड़े होंगे। एक पूर्ण प्रशिक्षित और साधन-संपन्न लड़ाकू सेना, जिसमें बाकायदा तैयार खाइयों में

प्रतिरक्षात्मक मोर्चा लिए परेशे हुए सैनिक थे तथा जिनका नेतृत्व एक सक्षम कमांडर कर रहा था, की विफलता के लिए कोई अन्य विश्वसनीय स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता, सिवाय इसके कि उन्हें दुश्मन का हमला होने से पहले ही अपने देश का प्रतिरक्षात्मक मोर्चा छोड़कर भागने का आदेश दिया गया था।

इस बात की भरपूर संभावना प्रतीत होती है कि पश्चिमी और चीनी गुप्तचर एजेंसियों ने अपने-अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए परस्पर विरोधी संबंधों के बावजूद आपस में सहयोग किया था और निश्चय ही उन्हें अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त हुई। नेहरू की गुटनिरपेक्षता की नीति रातोंरात प्रभावहीन हो गई। उनको उन्हीं पश्चिमी ताकतों से हथियार मांगने पड़े, जिनकी नीतियों की वह आलोचना करते आए थे। जरूरत पड़ने पर पश्चिमी ताकतें ही सच्ची मित्र सिद्ध हुईं जबकि गुटनिरपेक्ष शक्तियों ने मामूली रुचि दिखाई। जहां तक सेना का संबंध है, 1962 के बाद से पश्चिमोन्मुखी गुट के अन्य अफसरों ने सेना के मामलों को अपने अधिकार में ले लिया। न्यामका चू में मिली विफलता के ढंग तथा एक महीने बाद सेला, डिराग जोंग और बोमडिला की पराजय में उसकी पुनरावृत्ति को देखते हुए यह संकेत मिलता है कि तीनों जगहों पर एक ही अज्ञात संस्था द्वारा जाल बिछाया गया था, जिसने तीनों जगह समान ढंग से निर्देशन कर अपने मंसूबों में कामयाबी हासिल की। पराजय से संबंधित सूत्रों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

(1) न्यामका चू में पहले ब्रिगेड मुख्यालय विघटित हुआ था न कि बटालियनें, जैसाकि सामान्यत: होता है। डिराग जोंग में भी पूर्णतया यही तरीका दोहराया गया।

(2) ब्रिगेड मुख्यालय को न्यामका चू के किनारे एक समतल भूमि पर स्थापित किया गया था। यह स्थान रणनीतिक दृष्टि से काफी असुरक्षित था। यहां तक कि सिर्फ छ: वर्ष के अनुभव वाला कोई कनिष्ठ कमांडर भी ऐसे असुरक्षित ठिकाने को मुख्यालय के लिए नहीं चुनता, जबकि किसी ऊंचे स्थान पर या बटालियन के भीतर ही किसी जगह पर स्थापित किया जा सकता था। इसी तरह 4 इन्फेंट्री डिविजन का मुख्यालय भी काफी असुरक्षित स्थल पर स्थापित किया गया, जबकि बेहतर और बनी-बनाई खाइयों वाला स्थान उपलब्ध था। उन खाइयों के निर्माण पर इंजीनियरों ने काफी मेहनत की थी तथा इस काम में काफी साधन खर्च किए गए थे, पर इसके बावजूद उनका इस्तेमाल तक नहीं किया गया।

(3) 7 ब्रिगेड मुख्यालय और 4 इन्फेंट्री डिविजन मुख्यालय अपने उच्चतर और निम्नतर मुख्यालयों से एकतरफा संचार भंग कर देते थे। यह कदम तमाम प्रशिक्षणों के विरुद्ध था तथा इससे सिगनल उपकरण नष्ट हो रहे थे

(4) सेना में कौल के खिलाफ लगातार प्रचार हो रहा था जबकि वह सैन्य-परिचालन क्षेत्र के नजदीक तक नहीं थे और लगभग 100-200 किलोमीटर दूर तेजपुर में थे। उन्होंने कुछ हद तक बोमडिला की सैन्य कार्रवाई में जरूर दखल दिया था, लेकिन सेला की कार्रवाई में उनका कोई दखल नहीं था।

(5) सेना में इस तरह का प्रचार किया जा रहा था कि थल सेना को लड़ाई नहीं लड़नी चाहिए, क्योंकि सरकार ने उसकी ठीक से देखभाल नहीं की है।

(6) 65 ब्रिगेड मुख्यालय में एक धुएं का बम तथा कुछ गोलियां छोड़ी गई थीं। स्पष्टतः यह काम सेना में ही या उसके नजदीक किसीने आतंक फैलाने के उद्देश्य से किया था। पक्षपातपूर्ण जांच के कारण अंत तक इन लोगों का पता नहीं चल सका। ऐसा ही अन्य मुख्यालयों और दूसरे स्थानों पर भी घटित हो सकता था। सेला से प्राप्त बाद की रिपोर्टों से संकेत मिलता था कि वहां आतंक जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जो भारतीय सेना में घुसाए गए जासूसों का काम लगता था।

(7) पूर्णतः संगठित और प्रतिरक्षित सेला पोजीशन को किन्हीं अज्ञात कारणों की वजह से छोड़ दिया गया (जोकि आज तक एक रहस्य है)। इस स्थान पर तैनात सैनिकों के पास 15 दिन तक लड़ने के लिए पर्याप्त साधन मौजूद थे तथा बाद में भी हवाई मार्ग से उन्हें रसद आदि पहुंचाई जा सकती थी। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहीं पर भारतीय सैनिकों ने 17 नवंबर, 1962 को चीनियों के हमले को प्रबलता से विफल कर दिया था।

(8) नवंबर, 1962 में भारतीय सेना चीनियों की अपेक्षा संख्या, अस्त्र-शस्त्र, रसद-आपूर्ति और सैनिक गुण (सभी सिपाही लड़ाका वर्गों से संबद्ध थे) की दृष्टि से बेहतर स्थिति में थी।

(9) एक मेजर जनरल और उनके परिचालन स्टाफ द्वारा अपनी फौज को पीछे छोड़कर भाग जाने की बात को उच्चस्तरीय नौकरशाहों और सैन्य कमांडरों द्वारा जानबूझकर राजनैतिक और अन्य मामलों में उलझाया गया।

(10) हार के कारणों की जांच करने वाली समिति का अध्यक्ष लेफ्टि जन० हैंडरसन ब्रुक्स को बनाया गया, जो भारतीय कम और अंग्रेज ज्यादा दिखते थे। यह बात भी सुविदित थी कि उनकी जड़ें कहीं और हैं, तथा वह शीघ्र ही भारत छोड़ने का विचार कर रहे हैं।

(11) जांच-समिति के समक्ष गवाह के रूप में बुलाए गए अफसरों पर सच न बोलने के लिए दबाव डाला गया या सच बोलने के लिए सुविदित तथा पेशे के प्रति निष्ठा भाव रखने वाले अफसरों को जांच के लिए बुलाया ही नहीं गया।

(12) 18 नवंबर, 1962 को सुबह वास्तव में क्या-क्या हुआ था, इसे मलिक ने भी उजागर नहीं किया है, जबकि एक गुप्तचरी संगठन से संबद्ध होने के नाते उन्हें उसकी निश्चित रूप से जानकारी रही होगी।

पराजय से संबंधित उपर्युक्त सूत्र संकेत देते हैं कि इसे निर्णय की भूल, न लड़ने की इच्छा, कायरता, और तैयारी की कमी का कारण बताकर नहीं टाला जा सकता। उंगली सिर्फ एक दिशा में उठती है—उच्चस्तरीय भितरघात।

अपने गुप्तचरी संगठन के साथ मलिक को न केवल 17 और 18 नवंबर की हकीकत की निश्चित जानकारी होनी चाहिए थी, बल्कि उन्हें यह भी मालूम करना चाहिए था कि वैसा क्यों और किस प्रकार हुआ। इस बात की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि घटना की छानबीन न करने के लिए उनपर दबाव पड़ा हो, अन्यथा पठानिया और उनके साथियों की भूमिका की यदि विस्तृत जांच-पड़ताल की गई होती तो प्रधान पदों पर आसीन लोगों का भंडाफोड़ होने के साथ-साथ अनेक रहस्यों पर से आवरण उठ सकता था। एक विशेषज्ञ हौसेन डब्ल्यू वाल्विन ने 'द फ्यूचर ऑफ इंटेलिजेंस' में लिखा है :

"एलेन डलेस और अमेरिकी गुप्तचर प्रणाली के अन्य जन्मदाताओं ने दसियों साल पहले यह पूर्वानुमान लगा लिया था कि सोवियत के० जी० बी० का सबसे पहला उद्देश्य सी० आई० ए०, 'नेशनल सेक्यूरिटी एडमिनिस्ट्रेशन' और अन्य प्रधान खुफिया एजेंसियों में घुसपैठ करना तथा इनके कुछ कर्मचारियों को अपनी ओर मिला लेना होगा।"

यदि अमेरिका और सोवियत संघ के बीच ऐसा हो सकता है, तो यह कल्पना करना कठिन नहीं होना चाहिए कि भारतीय खुफिया संगठन और भारती सेनाओं में घुसपैठ की गई थी और उन्हें अपनी इच्छानुसार काम करने के आदेश दिए गए थे।

यह भी ज्ञातव्य है कि सी० आई० ए० और के० जी० बी० के एजेंटों में मेक्सिको के तीन राष्ट्रपति (सी० आई० ए०), मिस्र के कई मंत्री (के० जी० बी०), इक्वेडर की कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष (सी० आई० ए०) तथा महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन अनेक लोग रह चुके हैं। भारत की नाजुक सीमाओं के रहते निरपवाद रूप से, हमारे यहां उच्च सैनिक अफसर ही लक्ष्य रहे होंगे, क्योंकि उनके साथ आसानी से समझौता किया जा सकता था। अपनी विदेश यात्राओं के दौरान ये अफसर सर्वश्रेष्ठ निशाना होते हैं—उनकी जानी-मानी कमजोरियों तथा उन पर अंकुश रखने की किसी प्रणाली के अभाव के कारण।

भारत पर इस तरह की पराजय थोपने में विदेशी एजेंसियों की क्या दिलचस्पी थी, यह समझना कठिन नहीं है। नेहरू के शासनकाल में भारत गुटनिरपेक्ष आंदोलन को संगठित कर रहा था। नेहरू को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में काफी रुचि थी। भारत के सैनिक दृष्टि से कमजोर तथा औद्योगिक विकास के प्रथम चरण में होने के बावजूद उन्होंने कल्पना की कि वह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित कर सकते हैं। कोरिया युद्ध के दौरान भारतीय रवैया, युद्ध के बाद देश-प्रत्या-

वर्तन में इसकी भूमिका, स्वेज संघर्ष के दौरान विदेशी ताकतों के हस्तक्षेप की कड़ी निंदा, रूस के प्रति झुकाव (जैसाकि मिग विमान समझौते में प्रकट हुआ था), सभी ने मिलकर भारत के प्रति विरोध का वातावरण तैयार कर दिया था। कृष्णा मेनन के रवैये और अक्खड़ तरीकों के कारण कांग्रेस पार्टी में और बाहर उनका विरोध बढ़ रहा था। उन्होंने अपने अनेक शत्रु पैदा कर लिए थे। कोर कमांडर के रूप में कौल की नियुक्ति ने विरोधी विदेशी एजेंसियों के काम को और आसान बना दिया। उन्हें भारतीय सेना का पश्चिमोन्मुखी उच्च अफसर वर्ग पसंद नहीं करता था। अत: विदेशी एजेंसियों के लिए अपनी योजना को कार्यान्वित करना तथा बाद में तथ्यों पर पर्दा डालना सुलभ हो गया।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन और विशेषकर व पांचवें दशक के दौरान शुरू की गई नेहरू की विदेश नीति के प्रति अमेरिकी प्रशासन काफी नाराज था। ब्रिटेन और फ्रांस भी भारत की विदेश नीति से खुश नहीं थे। उन हालात में शायद पश्चिमी सरकारों के हथियारों यानी खुफिया एजेंसियों को कुछ खास काम और लक्ष्य सौंपे गए होंगे। जाहिर है, उन्हें अपने काम में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई।

जैसे ही भारत का चीन के साथ सीमा-संघर्ष शुरू हुआ, इन एजेंसियों को अपना काम शुरू करने का मौका मिल गया। पहले चरण में एक शानदार लड़ाकू फौज को उसके उच्च कमांडरों और अफसरों द्वारा न्यामका चू में युद्ध के लिए लगाया गया। इस फौज को काफी बुरे हालात में लड़ाई लड़ने को मजबूर किया गया। बाद में सेला और बोमडिला में, जहां हम अत्यंत लाभकारी स्थिति में थे, सेनाओं पर बड़े अव्याख्येय ढंग से पराजय थोपी गई।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के मुंह पर कालिख पोतने के अपने उद्देश्य में सफल होने के बाद, पश्चिमी गुप्तचरों का उद्देश्य पूरा हो चुका था। नेहरू ने अमेरिकी मदद मांगी और उसका स्वागत किया। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नेहरू की छवि को गहरा आघात पहुंचा, कृष्णा मेनन को रक्षामंत्री का पद छोड़ना पड़ा। निश्चय ही नेहरू यह समझ चुके थे कि अब अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर कठोर विचार व्यक्त करना व्यर्थ है। बाद के वर्षों में उनके व्यवहार से यह बात स्पष्ट होती थी। चीन भी भारत को अपमानित करने और एशिया की प्रबलतम शक्ति बनने का उद्देश्य पूरा कर चुका था। उसे यह सफलता संभवत: भारतीय सेना में घुसे देश-द्रोहियों की मदद से मिली थी। उन्हें अब एक जागरूक देश दिखाई दिया, जो विघटित होने के बजाय एकसाथ उठ खड़ा हुआ था, लेकिन देश की आंख बहुत देर से खुली थी। नुकसान पहले ही पहुंचाया जा चुका था। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत अपना स्थान और प्रतिष्ठा गंवा चुका था।

हिमालय को लांघकर निकलने की व्यावहारिक कठिनाई, नेफा पर कब्जा करने की व्यर्थता, मामले को लेकर साम्यवादी शक्तियों में मतभेद और भारत की

मदद को पश्चिमी शक्तियों के पहुंचने जैसे कई कारण थे, कि चीन को हिमालय से परे, पीछे हटने को विवश होना पड़ा।

इस पुस्तक के पृष्ठों के माध्यम से यदि मैं जनता और देश की रुचि भारतीय सेनाओं के मामलों में कुछ वस्तुगत रूप से हिस्सा लेने के लिए उत्पन्न कर सका, तो अपने उद्देश्य को मैं सफल समझूंगा। यदि देश अपनी स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और एकात्मकता को बनाए रखना चाहता है तो उसे भारतीय सेनाओं में पूरी रुचि लेनी होगी, उनपर कड़ी नज़र रखनी होगी और उनकी गतिविधियों को समझना होगा। राजनैतिक, आर्थिक, सैद्धांतिक या किसी अन्य क्षेत्र में किसी विफलता का असर सीमित होता है, पर युद्ध में किसी असफलता के अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव होते हैं, यहां तक कि एक देश अपनी पहचान तक खो सकता है, जैसाकि पाकिस्तान के साथ हुआ था। अतः जिस विषय पर हम हर साल तीन हज़ार करोड़ रुपये खर्च करते हैं, उसके मामलों में दिलचस्पी लेने की गंभीर ज़रूरत है, अन्यथा विदेशी एजेंसियों द्वारा हमपर एक और पराजय थोप दी जाएगी। हमारे यहां इसे रोकने के लिए कोई पर्याप्त प्रतिनिधित्व संगठन नहीं है। खतरा इसलिए भी है, क्योंकि हमारी भारतीय सेनाओं के अन्य कलपुर्जे इन स्वार्थी एजेंसियों को सुगम अवसर प्रदान करते हैं।

परिशिष्ट

परिशिष्ट 'क'

भारत-चीन संबंधों पर 1950 में सरदार पटेल द्वारा जवाहरलाल नेहरू को लिखा गया पत्र।

मेरे अहमदाबाद से लौटने और ठीक उसी दिन, सिर्फ 15 मिनट की पूर्व सूचना पर, मन्त्रिमंडलीय बैठक में उपस्थित होने के बाद से, जिसके लिए मुझे खेद है कि मैं सभी कागजात नहीं पढ़ पाया था, मैं तिब्बत की समस्या पर गंभीरता से विचार कर रहा हूं। मैं समझता हूं कि इस सम्बन्ध में अपने मस्तिष्क में उठ रहे विचारों से आपको भी अवगत करा दूं।

मैंने विदेश मंत्रालय और पीकिंग में हमारे राजदूत तथा उनके माध्यम से चीनी सरकार से हुए पत्र-व्यवहार को काफी ध्यानपूर्वक पढ़ा है। मैंने इस पत्र-व्यवहार को जहां तक संभव हो सका है, अपने राजदूत और चीनी सरकार के हित में अध्ययन करने का प्रयास किया है। पर अफसोस है कि अध्ययन के बाद इनमें से कोई भी अच्छी धारणा नहीं बनती।

चीनी सरकार ने अपने शांतिमय इरादों की घोषणा कर हमें बहकाने की कोशिश की है। मेरा निजी विचार यह है कि वे तिब्बत की समस्या को शांतिपूर्वक सुलझाने की इच्छा प्रकट कर हमारे राजदूत के मन में एक झूठा आत्मविश्वास पैदा करने में सफल हुए हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि इस पत्र-व्यवहार के दौरान चीन का पूरा ध्यान तिब्बत पर आक्रमण करने की ओर लगा रहा है। मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि चीनियों का अंतिम कदम विश्वासघात से कुछ कम नहीं है।

इसमें ट्रेजेडी यह है कि तिब्बती लोग हमारा विश्वास करते हैं। वे हमारे मार्गदर्शन में चलना पसंद करते हैं, और हम उन्हें चीनी कूटनीति के जाल या चीनी विद्वेष से बाहर नहीं निकाल पाए हैं। नवीनतम स्थिति से प्रतीत होता है कि हम दलाई लामा को नहीं छुड़ा पाएंगे।

हमारे राजदूत चीन की नीतियों और गतिविधियों का स्पष्टीकरण और

औचित्य प्राप्त करने के लिए बड़े आतुर हैं। जैसाकि विदेश मंत्रालय ने उनको दिए एक तार में उल्लेख किया था, भारत की ओर से उनके द्वारा चीनी सरकार को लिखे गए एक-दो पत्रों में दृढ़ता का अभाव और अवांछित क्षमाभाव टपकता था। कोई भी जिम्मेदार व्यक्ति तिव्वत में ब्रितानी-अमरीकी चालों से चीन को होनेवाले तथाकथित खतरे की बात पर विश्वास करेगा, यह कल्पना करना भी असम्भव है। अतः यदि चीन इसपर विश्वास करता है तो निश्चय ही वह हम-पर बिलकुल यकीन नहीं करता और हमें ब्रितानी-अमेरिकी कूटनीति या चाल का मोहरा समझता है। आपके द्वारा प्रत्यक्ष प्रस्ताव करने के बावजूद यदि चीनी यह भावना रखते हैं तो इससे यही संकेत मिलता है कि यद्यपि हम तो चीन को अपना मित्र मानते हैं, लेकिन चीनी हमें अपना दोस्त नहीं समझते। "जो उनके साथ नहीं हैं, वे उनके विरोध में हैं—" ऐसी कम्युनिस्ट मानसिकता होने के कारण यह एक महत्वपूर्ण संकेत है जिसपर हमें पर्याप्त ध्यान देना होगा।

पिछले कई महीनों से चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश दिलाने के लिए रूसी गुट के अलावा हम बिलकुल अकेले प्रयास करते रहे हैं। उसी तरह अकेले हमने प्रयास करके फारमोसा के प्रश्न पर अमरीकी आश्वासन प्राप्त किया है। अपने बारे में चीनियों के मनोभावों को शांत करने, उनके संदेहों को दूर करने, तथा अमेरिका, ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ पत्र-व्यवहार या वार्तालाप के समय उनके हितों के समर्थन की हमने हमेशा हर सम्भव कोशिश की है। लेकिन इन सबके बावजूद चीन हमारी निःस्वार्थता के प्रति आश्वस्त नहीं है। वह अभी तक हमें शक की नजर से देखता है, और उसकी पूरी मानसिकता हमारे प्रति शायद विरोधमिश्रित अविश्वास से ग्रस्त है।

मुझे उम्मीद नहीं है कि हम चीन को अपने अच्छे इरादों, दोस्ती और सद्-भाव से और ज्यादा आश्वस्त कर सकते हैं। पीकिंग में हमारे राजदूत दोस्ताना व्यवहार कायम करने के लिए पूर्णतः उपयुक्त व्यक्ति हैं, पर लगता है, वह भी चीनियों के रवैये को बदल पाने में असफल रहे हैं। चीन का आखिरी तार अशिष्ट आचरण है। इसमें तिब्बत में चीनी सेनाओं के प्रवेश पर हमारे विरोध का न केवल रुखाई से जवाब दिया गया है, बल्कि यह अविवेचित आरोप भी निहित है कि हमारा रवैया विदेशी प्रभावों द्वारा निर्धारित होता रहा है।

इससे तो यही उजागर होता है कि हमसे कोई दोस्त नहीं, बल्कि एक सम्भा-वित शत्रु बात कर रहा है।

इसी पृष्ठभूमि में हमें अपनी नई समस्या पर विचार करना है। जैसाकि हम जानते हैं, तिब्बत के लुप्त हो जाने के बाद चीन बढ़कर हमारे दरवाजे के करीब पहुंच चुका है। पूरे इतिहास में हम अपनी उत्तर-पूर्वी सीमा के प्रति शायद ही कभी चिंतित रहे होंगे। उत्तर से आने वाले किसी भी खतरे के खिलाफ

हिमालय एक अभेद्य दीवार की तरह माना जाता रहा है। हमारे पास तिब्बत के रूप में एक दोस्त था, जिसने कभी परेशान नहीं किया। चीनियों ने भी सीमाओं के बारे में हमें कभी उलझन में नहीं डाला था।

1914 में हमने तिब्बत के साथ एक समझौता किया था जिसमें चीन ने असली सहमति प्रकट नहीं की। तिब्बत के साथ स्वतंत्र समझौते कर हमने एक तरह से उसकी स्वायत्तता को स्वीकार किया था। संभवतः सिर्फ एक चीज की जरूरत बाकी थी। वह थी चीन के प्रतिहस्ताक्षर। शायद अधिराज्य के संबंध में चीनी व्याख्या भिन्न है। अतः यह हम आसानी से अंदाज लगा सकते हैं, चीन जल्दी ही उन सभी अनुबंधों के प्रति अपनी अस्वीकृति प्रकट करेगा जो तिब्बत ने हमारे साथ पिछले वर्षों में किए हैं। इसका सीधा अर्थ है तिब्बत के साथ किए गए सभी सीमा-सम्बन्धी और व्यापारिक समझौतों का स्वाहा हो जाना, जिनपर हम पिछली आधी शताब्दी से अमल करते रहे हैं।

चीन अब विभक्त नहीं रह गया है। यह मजबूत और संगठित है। उत्तरी और उत्तर-पूर्वी भाग के हिमालय क्षेत्र में हमारी सीमा पर जो जनसंख्या है, वह सांस्कृतिक और जातीय दृष्टि से तिब्बतियों और मंगोलियाइयों से भिन्न नहीं है।

सीमा की अपरिभाषित स्थिति तथा उसपर तिब्बतियों और चीनियों से मिलती-जुलती जनसंख्या की मौजूदगी, भारत और चीन के बीच सम्भावित संघर्ष के लिए पर्याप्त कारण हैं। हाल का कटु इतिहास भी यह बताता है कि साम्यवाद साम्राज्यवाद का कोई परिरक्षक नहीं है, और साम्यवादी भी साम्राज्यवादी या अन्य लोगों जितने ही अच्छे या बुरे होते हैं। उस संदर्भ में चीनियों के मंसूबे हिमालय की हमारी ओर वाली ढलानों तक ही सीमित नहीं है। उनकी नजर आसाम के महत्वपूर्ण हिस्सों पर भी लगी है।

उनकी महत्वाकांक्षाए बर्मा में भी हैं। बर्मा की दिक्कत और ज्यादा है, क्योंकि इसके इर्द-गिर्द कोई मैकमेहोन लाइन नहीं है, जिसके अभाव में किसी समझौते का आकार भी बनना मुश्किल है।

चीनी दावेदारी और साम्यवादी साम्राज्यवाद पश्चिमी शक्तियों के विस्तारवाद या साम्राज्यवाद से भिन्न हैं। यह सिद्धान्तवाद का लबादा पहने है जिसकी वजह से यह दस-गुना अधिक खतरनाक हो जाता है। सैद्धान्तिक विस्तार के आवरण में जातिगत, राष्ट्रीय और ऐतिहासिक दावे छिपे हुए हैं।

अतः उत्तरी और उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र से आने वाला खतरा साम्यवादी ही नहीं साम्राज्यवादी भी है। हमारी सुरक्षा को पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी खतरे तो पहले की तरह प्रबल हैं ही, उत्तर और उत्तर-पूर्व से भी एक नया खतरा उत्पन्न हो गया है। अतः शताब्दियों के बाद पहली बार भारतीय प्रतिरक्षा को एक साथ दो मोर्चों पर केंद्रित होना पड़ेगा। अभी तक हमारे प्रतिरक्षा के मापदंड पाकिस्तान

से श्रेष्ठता के अनुमान पर आधारित होते रहे हैं।

अपनी गणना में हमें अब उत्तरी और उत्तर-पूर्वी सीमा पर झांकते साम्यवादी चीन पर नजर रखनी होगी। इस साम्यवादी देश के निश्चित इरादे और महत्त्वाकांक्षाएं हैं तथा यह किसी भी तरह हमारी ओर दोस्ताना रुख अपनाता प्रतीत नहीं होता है।

उस संभावित कठिनाईग्रस्त मोर्चे के राजनैतिक पक्ष पर भी मैंने विचार किया है। हमारी उत्तरी और उत्तर-पूर्वी सीमाओं के अंतर्गत नेपाल, भूटान, सिक्किम, दार्जिलिंग और आसाम के आदिवासी क्षेत्र आते हैं। संचार व्यवस्था की दृष्टि से ये क्षेत्र कमजोर स्थल हैं। अविच्छिन्न प्रतिरक्षी मार्ग मौजूद नहीं हैं। घुसपैठ की गुंजाइस लगभग असीम है। केवल कुछ ही मार्गों पर पुलिस संरक्षण उपलब्ध है। संभवतः वहां भी हमारी चौकियों पर पर्याप्त मात्रा में सिपाही नहीं हैं।

इन इलाकों के साथ हमारा संबंध किसी भी तरह नज़दीकी और घनिष्ठ नहीं है। इन भागों में रहने वाले लोगों की भारत के प्रति कोई स्थापित निष्ठा या वफादारी नहीं है। यहां तक कि दार्जिलिंग और कलिमपोंग क्षेत्र भी मंगोलियाई समर्थन भावना से मुक्त नहीं है। पिछले तीन वर्षों में हम नागाओं और असम के दूसरे पहाड़ी आदिवासियों तक अपनी कोई उल्लेखनीय पहुंच नहीं बना पाए हैं। यूरोपीय धर्मप्रचारक और अन्य यात्री उनसे मिलते-जुलते रहे हैं, पर उनका प्रभाव किसी भी तरह भारत या भारतीयों के प्रति मैत्रीपूर्ण नहीं है। सिक्किम में कुछ समय पूर्व राजनैतिक उत्तेजना उत्पन्न हुई थी। बहुत संभव है, वहां अब तक असंतोष व्याप्त हो। भूटान अपेक्षातर शांत है पर उसकी तिब्बतियों के साथ जातिगत समानता समस्या हो सकती है। नेपाल बल के सहारे टिका हुआ एक कमजोर और अल्पतंत्रीय राज्य है। आधुनिक युग के प्रबुद्ध लोग अलग से नेपाल की मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ हैं।

इन परिस्थितियों के रहते जनता को नये खतरे के प्रति सचेत करना या उसे प्रतिरक्षात्मक दृष्टि से ज्यादा मजबूत बनाना निश्चय ही एक बहुत कठिन कार्य है। इस कठिनाई पर काबू पाने के लिए प्रबुद्ध दृढ़ता, शक्ति और स्पष्ट नीति की जरूरत है। मुझे विश्वास है कि चीन और उसका प्रेरणास्रोत सोवियत रूस, उपरोक्त कमजोरियों से लाभ उठाने का कोई मौका नहीं चूकेंगे। वे इससे दोनों तरफ का फायदा उठाएंगे—अपने सिद्धांतों के अमल में तथा अपने मंसूबों को पूरा करने में। अतः मेरे विचार के अनुसार ऐसी स्थिति में न तो हम आत्मसंतोषी बने रह सकते हैं, और न ही अनिश्चितता में जी सकते हैं। हमें एक स्पष्ट विचार बनाना होगा कि हम क्या चाहते हैं तथा उसे प्राप्त करने के लिए कौन-कौन-से तरीके अपनाएंगे। अपने उद्देश्यों और कदमों को नियोजित करने संबंधी

कोई भी हिचकिचाहट या निर्णायकता का अभाव हमें निश्चित रूप से कमजोर बनाएगा और बिलकुल स्पष्ट दिख रहे खतरों को बढ़ावा देगा।

इन बाहरी खतरों के साथ-साथ अब हमें कुछ गंभीर आंतरिक समस्याओं से भी जूझना पड़ेगा। मैं पहले ही इन मामलों में गुप्तचरी ब्यूरो द्वारा मूल्यांकन करने को कह चुका हूं। अब तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को विदेशी कम्युनिस्टों से संपर्क करने में तथा उनसे हथियार और साहित्य आदि प्राप्त करने में कठिनाई अनुभव होती रही है। उन्हें कठिन बर्मी और पाकिस्तानी सीमाओं तथा लंबे समुद्र मार्ग से जूझना पड़ता था।

अब उन्हें चीनी साम्यवादियों या अन्य विदेशी साम्यवादियों तक पहुंचने के लिए अपेक्षाकृत आसान रास्ते उपलब्ध होंगे। जासूसों और कम्युनिस्टों की घुसपैठ अब आसान हो जाएगी। तेलंगाना और वारंगल के इक्के-दुक्के साम्यवादी ठिकानों के बजाय, अब हमें उत्तरी और उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर अपनी सुरक्षा के लिए साम्यवादी खतरों से निपटना होगा। इन क्षेत्रों में साम्यवादी अपने अस्त्र-शस्त्रों और गोला-बारूद के लिए आसानी से चीन के शस्त्रागारों पर निर्भर रह सकते हैं।

अतः यह समूची स्थिति अनेक समस्याओं को उठाती है जिनके लिए हमें शीघ्र निर्णय लेना आवश्यक है। जैसाकि मैंने पहले कहा है, हमें अपनी नीति के उद्देश्य तय करने हैं, साथ ही वे तरीके भी, जिनकी मदद से हम समस्या से विस्तृत रूप से निपट सकें। हमें अपनी प्रतिरक्षा नीति और तैयारी के बारे में ही नहीं, बल्कि आंतरिक सुरक्षा संबंधी समस्याओं पर भी विचार करना है जिनके लिए हम एक क्षण भी नहीं गवा सकते। हमें सीमावर्ती भागों में कमजोर ठिकानों की राजनैतिक और प्रशासनिक समस्याओं से भी निपटना होगा जिनका मैं पहले ही जिक्र कर चुका हूं।

मेरे लिए यह बिलकुल असंभव है कि इन समस्याओं को मैं यहां संपूर्णता के साथ रख सकूं, तथापि मैं कुछ ऐसी समस्याओं का नीचे उल्लेख कर रहा हूं, जिनका, मेरे विचार में, शीघ्र ही हल निकालना चाहिए। इन्हें पूरा करने के लिए हमें अपनी प्रशासनिक और सैनिक नीतियां तथा तरीके तय करने हैं :

(क) भारत को चीन से सरहदी और अंदरूनी खतरे का सैनिक और खुफिया मूल्यांकन।

(ख) सैनिक स्थिति का अध्ययन तथा फौजों को जरूरी ढंग से तैनात करना, खास कर उन क्षेत्रों और भागों का सुरक्षा प्रबंध जहां विवाद की संभावना हो।

(ग) हमारी सेनाओं की शक्ति का मूल्यांकन तथा नये खतरों को देखते हुए, यदि जरूरी हो तो, थल सेना में छटनी की अपनी योजना पर पुर्नविचार।

(घ) प्रतिरक्षा संबंधी अपनी दीर्घकालीन आवश्यकताओं पर विचार करना। मेरा अपना विचार है, जब तक हम स्वयं को अस्त्र-शस्त्रों की आपूर्ति में आश्वस्त

नहीं कर लेंगे, हमारी प्रतिरक्षा स्थिति लगातार कमजोर रहेगी और हम पश्चिम और उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर और उत्तर-पूर्व में उत्पन्न दोतरफा खतरों से निपटने लायक नहीं होंगे।

(ङ) संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के प्रवेश का प्रश्न। चीन द्वारा हमको दिए गए दो टूक जवाब तथा तिब्बत से निपटने के लिए इसके द्वारा अपनाए गए तरीके को देखते हुए मुझे शक है कि हम उसके दावे का और अधिक समर्थन कर सकते हैं। कोरिया युद्ध में चीन के सक्रिय भाग लेने के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ से उसे निष्कासित करने के लिए संभावित खतरा रहेगा। हमें अपना रुख इस सवाल पर भी अवश्य निर्धारित करना चाहिए।

(च) अपने उत्तरी और उत्तर-पूर्वी मोर्चों को मज़बूत बनाने के लिए उठाने योग्य आवश्यक राजनैतिक और प्रशासनिक कदम। इसमें पूरी सीमा शामिल होगी यानी नेपाल, भूटान, सिक्किम, दार्जिलिंग और असम के आदिवासी क्षेत्र।

(छ) इन क्षेत्रों में तथा सीमावर्ती चौकियों के बीच संचार साधनों, सड़क, रेल, वायु और वायरलेस में सुधार।

(ज) सीमावर्ती चौकियों पर गुप्तचरी और पुलिस व्यवस्था।

(झ) हमारे ल्हासा मिशन, ग्यांग्त्से और नाटुंग में हमारी व्यापारिक चौकियों तथा व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा हेतु तिब्बत में तैनात हमारी फौज का भविष्य।

(ञ) मैकमेहोन लाइन से संबंधित नीति।

ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो मेरे दिमाग में उठ रहे हैं। संभव है, इन प्रश्नों पर विचार-विमर्श हमें चीन, रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और बर्मा से अपने संबंधों के बारे में कुछ और विस्तृत प्रश्नों तक ले जाए। हालांकि ये प्रश्न सामान्य प्रकृति के होंगे, पर इनमें कुछ मूलतः काफी महत्त्वपूर्ण भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए हमें इसपर विचार करना पड़ सकता है कि बर्मा को चीन से निपटने के लिए मजबूत बनाने हेतु हम उसके निकट सहयोगी बनें या नहीं। मैं इस बात की संभावना से इनकार नहीं कर सकता कि हमपर ताकत का इस्तेमाल करने से पूर्व चीन बर्मा पर ताकत इस्तेमाल कर सकता है। बर्मा के साथ उसकी सीमा पूर्णतः अपरिभाषित है और चीनी क्षेत्र चीन के लिए समस्या को आसान बना सकते हैं। इसलिए बर्मा पर उनका ध्यान पहले जा सकता है।

मेरा सुझाव है कि इन समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए हम शीघ्र ही आपस में मिलें तथा फैसला करें कि हमें तुरंत क्या कदम उठाने चाहिए और अन्य समस्याओं के तत्काल अध्ययन के लिए निर्देश दें ताकि उनसे निपटने के लिए शीघ्र कदम उठाए जा सकें।

(स्रोत : 'सरदार पटेल कॉरेसपांडेंस, 1947-50,' भाग 10, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1974)

परिशिष्ट 'घ'

भारत-चीन संबंध : महत्त्वपूर्ण तिथियां

(सैन्य पक्ष) : नवंबर 1962 तक

1953-1959	—चीन द्वारा सीमा उल्लंघन की छुटपुट घटनाएं।
15 मार्च, 1959	—दलाई लामा का ल्हासा से प्रस्थान।
3 अप्रैल, 1959	—दलाई लामा तोवांग पहुंचे, उन्हें राजनैतिक शरण मिली।
सितंबर, 1959	—पहली बार चाऊ एन-लाई द्वारा नेफा पर दावा जतलाना।
अक्तूबर, 1959	—4 इन्फैंट्री डिविजन का अम्बाला से तेजपुर, असम के लिए प्रस्थान।
	—नेफा, नागालैंड और पूर्वी पाकिस्तान की देखभाल के लिए एच० क्यू० XXX III कोर की स्थापना।
1960-62	—सीमा-सड़क-निर्माण का गहन कार्यक्रम, तोवांग तक 'वन-टूक' सड़क बनी।
1961	—नेफा में 7 इन्फैंट्री ब्रिगेड तैनात।
जून, 1962	—4 इन्फैंट्री डिविजन द्वारा तोवांग को मभागीय मर्मस्थल के रूप मे मान्यता देना।
	—भारतीय सैनिकों का ढोला पर कब्जा।
जुलाई, 1962	—रूस के साथ मिग समझौते मे भारत-अमेरिकी संबंधों मे तनाव उत्पन्न होना।
अगस्त, 1962	—चीन द्वारा थागला चोटी पर कब्जा।
8 सितंबर, 1962	—चीनियों द्वारा ढोला चौकी को घेरना।
14 सितंबर, 1962	—पंजाब बटालियन को ढोला पोस्ट जाने का आदेश
15-16 सितंबर, 1962	—62 इन्फैंट्री ब्रिगेड का तेजपुर पहुंचना।
21 सितंबर, 1962 28 सितंबर, 1962	—ढोला चौकी पर हमला, हमले का करारा उत्तर

4 अक्तूबर, 1962 —जन० कौल को जी० ओ० सी० IV कोर मनोनीत किया जाना।

5-10 अक्तूबर, 1962 —ढोला क्षेत्र में कौल की यात्रा।

10 अक्तूबर, 1962 —दोनों पक्षों द्वारा मार्टरों और मीडियम मशीनगनों का प्रयोग किया जाना।

11 अक्तूबर, 1962 —कौल का दिल्ली प्रस्थान।

12 अक्तूबर, 1962 —थागला चोटी को मुक्त करने के आदेश रद्द।

13 अक्तूबर, 1962 —चीनियों को खदेड़ फेंकने संबंधी नेहरू का वक्तव्य।

18 अक्तूबर, 1962 —कौल बीमार और उनकी दिल्ली वापसी।

20 अक्तूबर, 1962 —न्यामका चू में 7 इन्फेंट्री ब्रिगेड पर चीनियों का हमला।

—मिसामारी में 4 इन्फेंट्री डिविजन की कमान के तहत 62 ब्रिगेड का मुख्यालय रखा जाना।

23 अक्तूबर, 1962 —65 इन्फेंट्री ब्रिगेड का मुख्यालय मिसामारी में।

25 अक्तूबर, 1962 —48 ब्रिगेड के मुख्यालय का मिसामारी पहुंचना।

27 अक्तूबर, 1962 —65 इन्फेंट्री ब्रिगेड का बोमडिला में मुख्यालय।

30 अक्तूबर, 1962 —65 ब्रिगेड का मुख्यालय डिरांग में।

1 नवंबर, 1962 —4 संभागीय मुख्यालय द्वारा डिरांग में काम शुरू।

3 नवंबर, 1962 —मेजर जनरल पठानिया का आगमन।

6-8 नवंबर, 1962 —48 ब्रिगेड बोमडिला में केंद्रित।

8 नवंबर, 1962 —राष्ट्रपति की नेफा-यात्रा।

10 नवंबर, 1962 —पूर्व और दक्षिण-पूर्व दिशा की ओर चीनी सैन्य दस्तों की कथित गतिविधियां।

14 नवंबर, 1962 —पत्रकारों की डिरांग/सेला-नेफा यात्रा।

17 नवंबर, 1962—एफ० एन०—सेला पर चीन के चार हमलों का करारा जवाब

—डिरांग स्थित 4 संभागीय मुख्यालय में बैठक—कोई निर्णय नहीं।

—ए० एन०—डिरांग गांव—मुन्ना कैंप के निकट मार्गावरोध हटाने के लिए टैंकों के साथ दो कंपनियों—डोगरा बटालियन तथा एक कंपनी मद्रास बटालियन—को भेजा जाना।

—62 ब्रिगेड द्वारा पीछे हटना आरंभ।

18 नवंबर, 1962—सुबह 6 बजे जनरल आफिसर कमांडिंग डिविजन द्वारा सैन्य कार्रवाई देखने के लिए डिरांग जोंग गांव को जाना

—4 इन्फैंट्री डिविजन और 65 इन्फैंट्री ब्रिगेड के मुख्यालय विघटित।

62 इन्फैंट्री ब्रिगेड का मुख्यालय भी विघटित।

20 नवंबर, 1962—चीन द्वारा एकपक्षीय युद्धविराम की घोषणा।

21 नवंबर, 1962—जन० चौधरी द्वारा स्थल-सेना का पद ग्रहण।

उपर्युक्त तिथियां व्यक्तिगत जानकारी, सरकारी प्रकाशनों और प्रकाशित पुस्तकों में उपलब्ध आंकड़ों पर आधारित हैं।

परिशिष्ट 'ग'

भारत-चीन युद्ध 1962

कमांडर और उनके प्रधान स्टाफ अफसर—कामेंग फ्रंटियर डिविजन

भारतीय सेना

4 इन्फेंट्री डिविज़न मुख्यालय (डिरांग जोंग के नजदीक)

मेजर जन० ए० एस० पठानिया, एम० वी० सी०, एम० सी०, जी० ओ० सी०।

लेफ्टि० कर्नल (वाद में ब्रिगेडियर) मनोहरसिंह, जी० एस० ओ०-1 (परिचालन)।

लेफ्टि० कर्नल शमशेरसिंह, ए० ए० और क्यू० एम० जी०।

ब्रिगेडियर (वाद में मेजर जन०) गुरवक्शसिंह गिल, कमांडर तोपखाना।

मेजर (वाद में मेजर जन०) नरिंदरसिंह, जी० एस० ओ०-2 (परिचालन)।

मेजर (वाद में लेफ्टि० कर्नल) सी० एम० गुप्ता, जी० एस० ओ०-2 (गुप्तचरी)।

डिरांग जोंग में 7 कैवलरि स्क्वैड्रन के 5 हलके टैंक।

सिगनल रेजीमेंट के विभिन्न घटक, इंजीनियर डिरांग में ई० एम० ई० शिविर के कर्मचारी तथा सैनिक।

अनुमानित संख्या = 2000 सैनिक

48 इन्फेंट्री ब्रिगेड—बोमडिला

ब्रिगेडियर गुरवक्शसिंह, कमांडर।

मेजर (वाद में ब्रिगेडियर) एम० एन० रावत, ब्रिगेड मेजर।

लेफ्टि० कर्नल (वाद में कर्नल) जयसिंह के नेतृत्व में 5 गार्ड।

लेफ्टि० कर्नल (वाद में कर्नल) एम० एस० वराड़ के नेतृत्व में 1 सिख लाईट इन्फेंट्री वटालियन।

लेफ्टि० कर्नल चंद्रन के नेतृत्व में 1 मद्रास वटालियन।

एक प्लाटून मीडियम मशीनगन।

एक दस्ता—हल्के टैंक (3 टैंक); 7 कैवलरि।
दो आर्टिलरि बैटरियां (तोपखाना)।
ए० एस० सी० के घटक, चिकित्सा दल, ई० एम० ई०; आसाम राइफल्स और सीमा सड़क इंजीनियर।

अनुमानित संख्या = 4,000 सैनिक

62 इन्फेंट्री ब्रिगेड—सेला

ब्रिगेडियर होशियार सिंह, कमांडर।
मेजर जे० डी० दत्ता, ब्रिगे० मेजर।
मेजर एलेग्जेंडर, डी० ए० ए० और क्यू० एम० जी०।
लेफ्टि० कर्नल (बाद में मेजर जन०) बी० एम० भट्टाचार्य के नेतृत्व में 4 गढ़वाल बटालियन।
लेफ्टि० कर्नल आर० बी० नंदा (युद्ध में मारे गए) के नेतृत्व में 4 सिख लाईट इन्फेंट्री बटालियन।
लेफ्टि० कर्नल (बाद में ब्रिगेडियर) ए० आर० ईरानी के नेतृत्व में 2 सिख लाईट इन्फेंट्री बटालियन।
लेफ्टि० कर्नल बी० एन० मेहता (युद्ध में मारे गए) के नेतृत्व में 1 सिख लाइट इन्फेंट्री बटालियन।
लेफ्टि० कर्नल एम० एस० ओबेराय के नेतृत्व में 13 डोगरा बटालियन, एक कंपनी—मीडियम मशीन गन।

तोपखाना

लेफ्टि० कर्नल बुडवार (युद्ध में मारे गए) के नेतृत्व मे 5 फील्ड रेजीमेंट।
3 फील्ड बैटरियां।
2 (देरजत) माउंटेन बैटरी (4 तोपें)।
दो भारी मार्टर बैटरिया (16 मार्टर तोपें)।
19 फील्ड कंपनी इंजीनियर।
हल्के टैंकों का एक दस्ता (3 टैंक)।
कामेंग स्थित आसाम राइफल्स चौकिया।
आर्मी सप्लाई कोर, चिकित्सा दल, पशु परिवहन दल।

कुल अनुमानित संख्या = 8,000 सैनिक

65 इन्फेंट्री ब्रिगेड (डिरांग जोंग के समीप)

ब्रिगेडियर ए० एस० चीमा, कमांडर।
मेजर (बाद में ब्रिगेडियर) एम० बी० वाडके, ब्रिगे० मेजर।
मेजर (बाद में लेफ्टि० कर्नल) जे० आर० सहगल, डी० ए० ए० और

यू० एम० जी० ।

लेफ्टि० कर्नल मेहता के नेतृत्व में 19 मराठा लाइट इन्फैंट्री बटालियन । क्लेफ्टि० कर्नल बी० एन० अवस्थी (युद्ध में मारे गए) के नेतृत्व में 4 राजपूत लाईट इन्फैंट्री बटालियन ।

लेफ्टि० कर्नल ऊथप्पा के नेतृत्व में 6 फील्ड रेजिमेंट, आर्टीलरि सिगनल, ई० एम० ई० और ए० ओ० सी के घटक तथा चिकित्सा सैनिक

कुल अनुमानित संख्या । 2500 सैनिक—इसके अतिरिक्त सैन्य परिचालन क्षेत्र में सीमा-सड़क-संगठन और आसाम राइफल्स के लोग भी थे ।

चीनी सेना।

11 वीं डिविज़न	—लगभग 8,000 सैनिक
55 वीं डिविज़न	—लगभग 8,000 सैनिक
419 यूनिट (रेजिमेंट)	—लगभग 2,500 सैनिक

कुल अनुमानित संख्या=18,500 सैनिक

उपर्युक्त आंकड़े अनुमानित हैं, पर सामान्यतः संघर्ष में लगाई गई सेना की संख्या से मिलते हैं ।

तुलनात्मक आंकड़े अस्त्र-शस्त्र

भारतीय सेना	चीनी सेना
हल्के टैंक—एक दस्ता (12 टैंक)	कुछ नहीं
25 पौंड वाली तोपें— 5/6 बैटरियां (40-50 तोपें)	कुछ नहीं
माउंटेन / भारी मार्टर बैटरियां—3 (संख्या में 18 से 20 तक)	अनुमानतः 2/3 हल्की / मार्टर बैटरियां(संख्या में 12 से 18 तक)
मीडियम मशीन गनें—एक कंपनी	कुछ नहीं
निजी हथियार	निजी हथियार
बोल्ट एक्शन राइफलें ·303/ 7·62	हल्की अर्द्धस्वचालित राइफलें
स्टेन-स्वचालित कारबाइन मशीन गन ब्रेन या हल्की मशीनगन	हल्की मशीन गनों के बराबर
प्रतिरक्षात्मक पोजीशनों पर दो सप्ताह तक के लिए एकत्र पर्याप्त गोला-बारूद ।	सीमित गोला-बारूद सिपाहियों पर लदा हुआ ।

परिशिष्ट 'घ'

भारत-चीन युद्ध, 1962

युद्ध से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित उच्च कमांडर और उनका स्टाफ

स्थल सेनाध्यक्ष	जन० पी० एन० थापर	अप्रत्यक्षतः संबंधित
निदेशक सैन्य कार्रवाई	ब्रिगेडियर डी० के० पालित	,, ,,
आर्मी कमांडर	लेफ्टि० जन० एल० पी० सेन	,, ,,
कोर कमांडर	लेफ्टि० जन० बी० एम० कौल	प्रत्यक्षतः ,,
ब्रिगेडियर जन० स्टाफ	ब्रिगे०के०के० सिंह, एम० वी० सी०	,, ,,
संभागीय कमांडर	मेजर जन० निरंजन प्रसाद उनके बाद मेजर जन० ए० एस० पठानिया, एम० वी० सी०, एम० सी०	,, ,,
जी० एस० ओ०-1 लेफ्टि० कर्नल	1 नवंबर, 1962 लेफ्टि० कर्नल मनोहरसिंह	,, ,,
ब्रिगेड कमांडर		
7 इन्फेंट्री ब्रिगेड	ब्रिगे० जे० पी० दलवी	प्रत्यक्ष नेतृत्व
62 इन्फेंट्री ब्रिगेड	ब्रिगे० होशियारसिंह (1 नवंबर, 1962 से)	,,
65 इन्फेंट्री ब्रिगेड	ब्रिगे० ए० एस० चीमा (1 नवंबर 1962 से)	प्रत्यक्ष नेतृत्व
48 इन्फेंट्री ब्रिगेड	ब्रिगे० गुरबक्शसिंह	,,
67 इन्फेंट्री ब्रिगेड	ब्रिगे० एम० सी० चटर्जी (16 नवंबर 1962 से बटालियनें बोमडिला तक पहुंचने लगी थी)	,,

परिशिष्ट 'ड'

सेना संगठन

छठे दशक में भारतीय फौजें

भारतीय	अनुमानित क्षमता	कमांडर	चीनी समानक	अनुमानित क्षमता
डिविजन	17,000-19,000	मेजर जनरल	डिविजन	8,000-10,000
ब्रिगेड	3,000-4,000	ब्रिगेडियर	रेजिमेंट	2,500
बटालियन	950	लेफ्टि०कर्नल	बटालियन	750-800
कंपनी	125	मेजर	कंपनी	150
प्लाटून	40	सूबेदार	प्लाटून	50
सेक्शन	11	हवलदार	सेक्शन	15
फील्ड रेजिमेंट आर्टिलरि (1962 में)	650	24 तोपें	आर्टिलरि बटालियन	12 तोपें
फील्ड बैटरी आर्टिलरि	180	6 तोपें	बैटरी	4 तोपें
माउंटेन बैटरी (खच्चरों पर आधारित)	180	4 तोपें	बैटरी	4 तोपें

उपर्युक्त आंकड़े स्टाफ कालेज द्वारा 1960 में दिए गए आंकड़े, 'मिलिटरी बैलेंस' में दी गई संख्याओं तथा 1960-1963 की अवधि के लिए उपलब्ध सूचना पर आधारित हैं।

परिशिष्ट 'च'

आजादी के बाद भारत का प्रतिरक्षा व्यय

वर्ष	वास्तविक प्रतिरक्षा व्यय (करोड़ रुपयों में)	वर्ष	वास्तविक प्रतिरक्षा व्यय (करोड़ रुपयों में)
1949-50	150	1963-64	816
1950-51	163	1964-65	805
1951-52	181	1965-66	884
1952-53	185	1966-67	908
1953-54	196	1967-68	968
1954-55	195	1968-69	1033
1955-56	189	1969-70	1100
1956-57	111	1970-71	1199
1957-58	279	1971-72	1525
1958-59	278	1972-73	1652
1959-60	266	1973-74	1680
1960-61	280	1974-75	2112
1961-62	312	1975-76	2410
1962-63	473	1976-77	2544

(स्रोत: प्रकाशन विभाग, भारत सरकार)

○○

मुद्रक : गजेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-1100032

पीढ़ियों तक ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में स्मरणीय ग्रंथ

मेरी जेल डायरी

चन्द्रशेखर

इस डायरी के बारे में प्रसिद्ध साहित्यकार, कवि एवं पत्रकार श्री 'अज्ञेय' का कहना है,

"पिछली सरकार को कालपात्र गाड़ने की बात तो सूझी किन्तु उसने और महत्त्वपूर्ण चीजों की उपेक्षा की। इन उपेक्षित चीजों की इस डायरी में सूक्ष्म अथवा विस्तार से जानकारी दी गई है। आप सबसे मेरा अनुरोध है कि आप इसे अवश्य पढ़ें। इसमें उपयोगी सामग्री है।"

प्रबुद्ध नागरिकों, बुद्धिजीवियों व राजनैतिक कार्यकर्ताओं के लिए अनिवार्य रूप से पठनीय ग्रंथ।

मूल्य : 60 रुपये

प्रकाशक



सरस्वती विहार
21, दयानंद मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110002